

ल

लक्षण-विज्ञान

(Semiotics)

लक्षण-विज्ञान अर्थात् मानवीय अन्योन्यक्रियाओं के सामाजिक और सांस्कृतिक लक्षणों का भाषाशास्त्रीय अध्ययन। यह शास्त्र इस धारणा के आधार पर विकसित हुआ है कि किसी चाक्षुष या मुद्रित पाठ का अर्थग्रहण निष्क्रिय ढंग से नहीं होता। बावजूद इसके कि स्वतःस्फूर्त ढंग से अर्थग्रहण करने वाले अधिकांश दर्शकों-पाठकों के पास इसका कोई प्रशिक्षण नहीं होता, यह प्रक्रिया कई तरह की सांस्कृतिक संहिताओं, अनुभवों, विमर्शों और विचारधाराओं से ओतप्रोत प्रक्रियाओं के आईने में सक्रिय ढंग से चलती हैं। लक्षण-विज्ञान की तकनीक अर्थग्रहण की इसी गतिविधि को आत्म-चिंतन और आलोचनात्मकता का स्पर्श देती है। बीसवीं सदी की शुरुआत में स्विस भाषाशास्त्री फ़र्डिनेंद द सॅस्यूर ने संरचनागत भाषाशास्त्र पर दिये गये अपने व्याख्यानों के दौरान इस पद्धति का प्रतिपादन किया था। लक्षण-विज्ञान के विकास के साथ-साथ ही यह समझ विकसित हुई कि भाषा किस तरह अर्थवान् बनती है और उसके अर्थ समाज के धरातल पर किस तरह सम्प्रेषित होते हैं। इसका समाज-विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों पर गहरा असर पड़ा। विभिन्न पाठों (चाहे वे साहित्यिक हों, फ़िल्मी हों या मीडिया-उत्पादित हों) का तात्पर्य-निरूपण करने के लिए लक्षण-विज्ञान के औजारों का प्रचुरता से इस्तेमाल किया जाने लगा। सीमियोटिक्स के अनुसार लक्षण (साइन) के तीन मुख्य गुण होते हैं : उसका कोई एक दैहिक रूप होना चाहिए जिससे उसे देखा-सुना अथवा स्पर्श किया जा सके; उसके ज़रिये खुद उसके बजाय किसी और का हवाला मिलना चाहिए;

और उसकी शिनाख्त किसी न किसी साझा सांस्कृतिक संहिता या प्रणाली के एक तत्त्व की तरह होनी चाहिए। संस्कृति-अध्ययन के क्षेत्र में काम करने वाले विद्वानों द्वारा लक्षण-विज्ञान को मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण से गूँथ कर सिनेमा-अध्ययन में नयी ज़मीन तोड़ी गयी।

सॅस्यूर ने अपनी इस पद्धति को सीमियोटिक्स का नाम दिया था। समाज-विज्ञान में इसके महत्त्व की स्थापना 1957 में हुई जब रोलाँ बार्थ की रचना *मायथोलॉजीज़* के साथ ही संरचनावाद सामने आया। लक्षण-विज्ञान में अमेरिकी भाषाशास्त्री सी.एस. पर्स का योगदान भी उल्लेखनीय है। उन्होंने लक्षण (साइन) और चिह्न (सिम्बल) के बीच अंतर की स्थापना की। पर्स ने लक्षण को स्वाभाविक और चिह्न को गढ़ा गया क्रार दिया। पर्स के बाद इस अनुशासन को उन्हीं के दिये गये नाम सीमियोटिक्स से जाना गया।

पहले भाषा का अध्ययन उसके क्रम-विकास के आईने में (अर्थात् फ़िलोलॉजी) के आईने में होता था। सॅस्यूर ने पहली बार यह पता लगाने की कोशिश की कि भाषा काम कैसे करती है और उसके अर्थों का उत्पादन किस तरह होता है। उन्होंने *लांगे* (व्याकरणसम्मत लिखी हुई भाषा जो बोली भी जा सकती है) और *पारोल* (बोली गयी भाषा) के आधारभूत प्रतिमान की स्थापना की। सॅस्यूर ने दिखाया कि भाषा लक्षणों की एक प्रणाली की तरह काम करती है लेकिन उन लक्षणों का उन वस्तुओं के साथ कोई सीधा संबंध नहीं होता जिनका अर्थ वे सम्प्रेषित करते हैं। भाषाई लक्षण कोई नाम नहीं होता जिसे किसी वस्तु से जोड़ा जा सके। वह तो सूचक (सिग्नीफ़ायर) और सूचित (सिग्नीफ़ायड) का अर्थात् शब्द और धारणा का संयोग होता है। चूँकि भाषा वस्तुओं की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं है, इसलिए उसके ज़रिये यथार्थ हम तक सीधे-सीधे नहीं पहुँचता। वह तो अपनी



जूलिया क्रिस्टेवा (1941-)



फर्दिनैंद द सँस्यूर (1857-1913)

सूचक-प्रणाली के माध्यम से यथार्थ को श्रवणेंद्रियों के सामने परोस देती है। अर्थात् भाषा जिसकी वाहक बनती है वह एक मीडियेटिड (प्रत्यक्ष के बजाय परोक्ष) यथार्थ होता है। सँस्यूर यह भी कहते हैं कि भाषाई लक्षणों और वस्तुओं के बीच का यह संबंध काफ़ी मनमाने तरीके से बनता है। भाषाओं के बीच अंतर की वजह भी यही मनमानापन है। इसी मनमानेपन के कारण भाषा की लक्षण-प्रणाली अन्य माध्यमों की लक्षण-प्रणाली को सम्बोधित कर सकती है। यही वह खूबी है जिसके आधार पर लक्षण-विज्ञान भाषाशास्त्र के दायरे से निकल कर साहित्य, सिनेमा, टेलिविज्ञान, विज्ञापन, पॉप संगीत, स्पोर्ट्स और फ़ैशन जैसे उन सभी क्षेत्रों में तात्पर्य-निरूपण के लिए इस्तेमाल किया जाता है जो अपनी-अपनी लक्षण-पद्धति से सामाजिक अर्थों का उत्पादन करते हैं। ये सामाजिक अर्थ हमेशा ही संदर्भगत हैं। मसलन, वैंलैंटाइन डे को प्रेमी द्वारा प्रेमिका को दिया गया गुलाब, संतान द्वारा माँ-बाप को भेंट किया गया गुलाब और किसी राजनीतिक दल के चुनाव चिह्न के रूप में गुलाब व्यक्तिगत, सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर अलग-अलग अर्थों का द्योतक है।

चूँकि भाषा द्वारा सम्प्रेषित यथार्थ प्रत्यक्ष के बजाय परोक्ष या मीडियेटिड है, इसलिए उसकी यह भूमिका वैसी ही है जैसी यथार्थ के सम्प्रेषण में विचारधारा की होती है। रोलाँ बार्थ ने सीमियोटिक्स का प्रयोग करके पचास के दशक में प्रचलित सांस्कृतिक रूपों के तात्पर्य का पता लगाया और मास कल्चर की भाषा का पता लगाया। उन्होंने दिखाया कि संस्कृति के क्षेत्र में सूचित होने की प्रक्रिया डिनोटेसन (सतही शाब्दिक अर्थ) और फिर कनोटेसन (गुणार्थ) के क्रम से

चलती है जिसके परिणामस्वरूप एक तीसरी चीज़ पैदा होती है जिसे विचारधारा कहते हैं। सतही शाब्दिक अर्थ से गुणार्थ तब पैदा होता है जब उसमें सांस्कृतिक मूल्य और विमर्श अपना निवेश करते हैं। गुणार्थ पैदा करने का यह सिलसिला मिथक-रचना की स्थितियाँ पेश करता है। बार्थ के मुताबिक मिथक का अर्थ समझ कर हम अपनी संस्कृति के निहितार्थों तक पहुँच सकते हैं।

उदाहरण के लिए अगर कोई दर्शक मीना कुमारी का फ़ोटोग्राफ़ देखता है। सतही अर्थों में उसके लिए वह एक फ़िल्म अभिनेत्री का कैमरा-चित्र है। गुणार्थक रूप से वह रित्रयोचित भारतीय सौंदर्य, दमित सेक्शुअलिटी, प्रेम और यौनतुष्टि की अतृप्त कामना, वैवाहिक विफलता और एक गुमराह जीवन का भी चित्र है। इस तस्वीर को देखने वाला हर दर्शक इसका तात्पर्य-निरूपण अपने-अपने तरीके से करेगा। लेकिन उन सभी तात्पर्यों में एक समुदाय के सांस्कृतिक मानस का संकेत देने वाला एक साझा तात्पर्य भी होगा जिसकी रचना में स्त्री से संबंधित विचारधाराएँ, पूर्वग्रह, सेक्शुअलिटी से जुड़े हुए प्रचलित विमर्शों की निर्णायक भूमिका होगी। इसे इंटरसब्जेक्टिविटी का नाम दिया गया है। एक तरफ़ तस्वीर के प्रेक्षक की निजी अनुक्रिया है जिसे संस्कृति संसाधित कर रही है, और दूसरी तरफ़ उसी अनुक्रिया के माध्यम से वह प्रेक्षक खुद को अपनी संस्कृति के मातहत किये दे रहा है। यह दुतरफ़ा गतिशीलता ही वह सिलसिला है जिससे विचारधारा अपना काम करती है।

समझ के इस मुकाम पर पहुँचते ही लक्षण-विज्ञान मनोविश्लेषण और मानवशास्त्र से भी जुड़ जाता है।

मानवशास्त्रियों, खास तौर से क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस द्वारा मिथकों की जाँच करने के लिए सॅस्यूर की अवधारणाओं का इस्तेमाल किया गया है। नारीवादी सिद्धांतशास्त्र में जूलिया क्रिस्टेवा ने प्राक्-भाषाई रूपों (जैसे ध्वनियाँ, धुनें, बच्चे के गले से निकलने वाली आवाजें, कविता की भाषा आदि) को सीमियाँटिक की संज्ञा दी है। क्रिस्टेवा का कहना है कि ये प्राक्-भाषाई रूप अर्थहीन नहीं होते, लेकिन इन्हें भाषा संबंधी लक्षणों और प्रतीकों में सीमित भी नहीं किया जा सकता।

देखें : अर्थ-विज्ञान, डायग्नॉसिस, नोआम चोमस्की, फ़र्दिनेंद द सॅस्यूर, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा।

संदर्भ

1. रोलॉ बार्थ (1967), *एलीमेंट्स ऑफ़ सीमियाँलॉजी*, अनु. एने लेवर्स और कोलिस स्मिथ, लंदन.
2. रोलॉ बार्थ (1957/1973), *मायथोलॉजीज़*, पालाडिन, सेंट अल्बांस.
3. उम्बर्टो ईको (1977), *अ थियरी ऑफ़ सीमियाँटिक्स*, लंदन, 1977
4. ए.जे. ग्रीमाज़ (1987), *ऑन मीनिंग : सिलेक्टड राइटिंग्स इन सीमियाँटिक थियरी*, अनु. पॉल पेरन और फ्रैंक कोलिस, मिनिआपोलिस, एमएन.

— अभय कुमार दुबे

लिबरेशन थियोलॉजी

(Liberation Theology)

लिबरेशन थियोलॉजी की सैद्धांतिक रचना मार्क्सवाद-लेनिनवाद और ईसाइयत की शिक्षाओं के संयोग से हुई है। इस आंदोलन की शुरुआत साठ और सत्तर के दशक में लातीनी अमेरिकी देशों से हुई। निकारागुआ में हुई मार्क्सवादी सेंडिनिस्टा क्रांति में लिबरेशन थियोलॉजी का उल्लेखनीय योगदान था। लेनिन द्वारा प्रतिपादित साम्राज्यवाद की व्याख्या अपनाते हुए इस सैद्धांतिकी ने दावा किया कि तीसरी दुनिया के देशों की दरिद्रता और उत्पीड़न के पीछे उत्तर के विकसित देशों (युरोप, अमेरिका, कनाडा आदि) का हाथ है। लिबरेशन थियोलॉजी के पैरोकारों के मुताबिक क्राइस्ट की निगाह में गरीबों का स्थान सबसे ऊँचा था, इसलिए चर्च को गरीब देशों में रैडिकल समाजवादी क्रांति का नेतृत्व करना चाहिए और ऐसी कम्युनिस्ट व्यवस्थाएँ स्थापित करनी चाहिए जो मेहनतकशों का लोकतांत्रिक राज्य स्थापित करते हुए

अमीरों से धन-सम्पत्ति छीन कर गरीबों में वितरित करके साम्राज्यवादी ताकतों को निकाल बाहर करें। इसका सैद्धांतिक प्रतिपादन 1971 में प्रकाशित जीसूट पादरी गुस्तावो गुतिरेज़ मेरिनो की रचना *अ थियोलॉजी ऑफ़ लिबरेशन* में किया गया है। गुतिरेज़ का आग्रह था कि धर्मशास्त्र को निजी दायरे से निकाल कर सामाजिक विश्लेषण के दायरे में लाया जाना चाहिए। इस तरह उन्होंने धर्म को व्यक्ति की निजी मुक्ति का साधन बनने के बजाय सामाजिक मुक्ति का वाहक बनने का प्रस्ताव किया। पाउलो फ़ेरे की विख्यात रचना *उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र* के सूत्र भी लिबरेशन थियोलॉजी से जुड़े हुए हैं। आज सारी दुनिया में लिबरेशन थियोलॉजी के कई संस्करण प्रचलित हो चुके हैं, जैसे ब्लैक लिबरेशन थियोलॉजी, ज्युइश लिबरेशन थियोलॉजी, एशियन लिबरेशन थियोलॉजी और लातीनी अमेरिकी लिबरेशन थियोलॉजी। पश्चिमी पूँजीवादी समाजों में भी फ्रैंकफ़र्ट स्कूल से प्रभावित पॉलिटिकल थियोलॉजी के सिद्धांत के प्रति आकर्षण महसूस विचार जाता है। युरोप, भारत, लातीनी अमेरिका, श्रीलंका और संयुक्त राज्य अमेरिका में बहुत से धर्मशास्त्री, पादरी और धार्मिक कार्यकर्ता आज भी लिबरेशन थियोलॉजी में आस्था रखते हैं।

लिबरेशन थियोलॉजी के ऐतिहासिक उद्गम के दो सिरे हैं। एक मार्क्सवाद में और दूसरा कैथलिक ईसाइयत में। 1921 में अंस्ट्र ब्लॉख ने एंगेल्स की प्रस्थापनाओं से बहस करते हुए इस मार्क्सवादी समझ में संशोधन करने का प्रयास किया कि 1524 के किसान युद्ध के पीछे जो कारण थे उनमें सेकुलर राजनीति की प्रच्छन्न मौजूदगी थी। ब्लाख का तर्क था कि थॉमस मुंज़र द्वारा इस्तेमाल की गयी भाषा ऐसी गहन धार्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करने वाली थी जिनमें राजनीतिक प्रतिबद्धता को बढ़ावा देने की गुंजाइश थी। दूसरे सिरे को रोमन कैथलिक चर्च के चिंतन और आचरण में आ रहे उन परिवर्तनों के सापेक्ष देखा जा सकता है जिनके पीछे द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के हालात में धर्म की रूढ़िमुक्त व्याख्या करने के आग्रह थे। 1955 में लातीनी अमेरिका के रोमन कैथलिक चर्च के तहत बिशप्स की एक कांफ्रेंस हुई जिससे कोसेजो इपिस्कोपल लैटिनोअमेरिकानो (सिलम) का जन्म हुआ। सिलम ने 1968 में कोलम्बिया में और 1974 में मैक्सिको में दो सम्मेलन किये। इसी बीच गुतिरेज़ ने ईसाई और मार्क्सवादी पहलुओं और विचार-परम्पराओं को आपस में मिला कर लातीनी अमेरिका की देशज थियोलॉजी का शीराजा तैयार कर डाला। बाद में उनके इस बौद्धिक प्रयास से लियोनार्डो बॉफ़ जैसे धर्मशास्त्री भी जुड़ गये। गुतिरेज़ का कहना था कि चर्च समाज में चल रहे वर्ग-संघर्ष के प्रति तटस्थ नहीं रह सकता और राजनीति करने का ठेका केवल कैथलिक चर्च के शीर्ष नेताओं के हवाले नहीं किया जाना चाहिए। गुतिरेज़ को हिंसक क्रांति से भी परहेज़ नहीं था।



गुस्तावो गुतिरेज़ मेरिनो (1928-)

उन्होंने बाइबिल को मार्क्सवादी-लेनिनवादी श्रेणियों के आईने में देख कर दावा किया कि क्रांतिकारी व्यवहार ही ईसाई आचरण संहिता का एकमात्र वैध रूप समझा जाना चाहिए।

गुतिरेज़ ने बाइबिल में वर्णित एकज़ोडस (पलायन) के प्रकरण को मुक्ति के रूपक की तरह इस्तेमाल किया। एकज़ोडस वाले अध्याय में धार्मिक आस्था और राजनीति साथ-साथ चलते हैं और उसी प्रकार मनुष्य की कार्रवाई ईश्वर की कार्रवाई के साथ एकमेक हो कर आगे बढ़ती है जिससे राजनीतिक तथ्य और धर्मशास्त्रीय आयाम आपस में घुलमिल जाते हैं। एकज़ोडस न केवल फ़राऊन द्वारा बरपाये जाने वाले राजकीय उत्पीड़न से मुक्ति का आख्यान है, बल्कि उसके ज़रिये संघर्षशील उत्पीड़क मुक्त धरती तक भी पहुँचते हैं। इस लिहाज़ से एकज़ोडस को बाइबिल के अनुयाइयों के लिए क्रांति के वाहक की तरह पेश किया जा सकता है।

लिबरेशन थियोलॉजी ने लातीनी अमेरिका में साठ और सत्तर के दशकों में कई राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों को जन्म दिया। इसकी प्रेरणा से 1980 तक दक्षिण अमेरिका में एक लाख से ज़्यादा छोटे-छोटे क्रांतिकारी समूह उभर चुके थे। स्थानीय स्तर पर अनगिनत ईसाई पादरियों, ननों और धर्मशास्त्रियों ने गुतिरेज़ की थीसिस स्वीकार कर ली थी। ये लोग ग़रीब शहरी और ग्रामीण जनता में साक्षरता के प्रसार के लिए ज़मीनी काम करने में जुट गये और बाइबिल का अध्ययन क्रांतिकारी राजनीति के प्रसार का माध्यम बन गया। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप निकारागुआ में अनास्तासिओ समोज़ा की तानाशाही के खिलाफ़ मार्क्सवादी-लेनिनवादी आंदोलन को बल मिलने लगा, और 1979 में सेंडिनिस्टा क्रांति ने उसे उखाड़ फेंका। इस क्रांति की नेतृत्वकारी शक्तियों में अर्नेस्टो कार्डिनल जैसे पादरी और लिबरेशन थियोलॉजी के पैरोकार भी शामिल थे। एल सल्वडोर के आर्कबिशप ऑस्कर रोमेरो ने भी लिबरेशन थियोलॉजी अपना ली जिसका नतीजा अर्धसैनिक बलों के हत्यारे दस्तों द्वारा उन्हें जान से मार दिये जाने में निकला। हत्या के समय रोमेरो

मास (सामूहिक प्रार्थना सभा) का नेतृत्व कर रहे थे। छह जीसूट पादरियों का क्रतल करने के अलावा हत्यारे दस्तों ने सेगुंडो मोंत्स और इग्नैसियो एलाक्यूरिया जैसे पादरियों की भी हत्या की जो लिबरेशन थियोलॉजी के स्थापित प्रवक्ता थे।

लिबरेशन थियोलॉजी केवल कैथलिकों तक ही सीमित नहीं रही। प्रोटेस्टेंटों ने भी उसमें रुचि लेनी शुरू कर दी। इसी प्रकार उसका प्रभाव लातीनी अमेरिका के बाहर भी फैला। 1976 में दार-ए-स्सलाम, तंज़ानिया में इक्युमेनिकल एसोसिएशन ऑफ़ थर्ड वर्ल्ड थियोलॉजियंस का गठन हुआ। इसका मक़सद एक ऐसा मंच बनाना था जिस पर लिबरेशन थियोलॉजी के विकास पर सैद्धांतिक चर्चा हो सके। उत्तरी अमेरिका के धर्मशास्त्री जेम्स एच. कॉन ने काले अमेरिकनों के लिए उसका विकास किया। दरअसल, लिबरेशन थियोलॉजी के क्रदम अमेरिका में नारीवादी, अश्वेतों/कालों और सामाजिक न्याय के आंदोलनों के ज़रिये ही पड़े। इपिस्कोपल, प्रेस्बिटेरियन, और मेथडिस्ट जैसे पुराने प्रोटेस्टेंट चर्चों ने इसे अपनाया। इसके प्रवक्ताओं ने तर्क दिया कि श्वेत पुरुषों ने लौकिक सत्ता पर अपना क़ब्ज़ा जमा रखा है जिसे आक्रमण करके पराजित किया जाना चाहिए ताकि सत्ता उत्पीड़ितों को हस्तांतरित की जा सके। लिबरेशन थियोलॉजी ने दावा किया कि सरकार, उद्योग-धंधों, शिक्षा, फ़ौज और चर्च जैसी संस्थाएँ इस लौकिक सत्ता के केंद्रों की तरह काम करती हैं इसलिए या तो उन्हें ख़त्म किया जाए या उनके ढाँचे में रैडिकल संशोधन किये जाएँ।

अनुदारवादी राजनीति और धर्मप्रचारवादी चर्चों में इस तरह के आह्वानों के खिलाफ़ कड़ी प्रतिक्रिया हुई। रिपब्लिकन पार्टी ने राष्ट्रपति रोनाल्ड रेगन के नेतृत्व में और बैप्टिस्टों के इवांजिलिकल चर्चों ने ख़ास तौर पर लिबरेशन थियोलॉजी का विरोध किया। रोमन कैथलिक चर्च की तरफ़ से भी इसकी अधिकारिक निंदा की गयी। 1979 में जब सिलम की मैक्सिको सिटी में कांफ़्रेंस हो रही थी, पोप जॉन पाल द्वितीय ने शहर का दौरा करते हुए लिबरेशन थियोलॉजी की आलोचना की। इस आलोचना की तत्कालीन प्रिफ़ेक्ट ऑफ़ द कांग्रिगेशन ऑफ़ फ़ेथ कार्डिनल जोसेफ़ रैट्ज़िंगर (जो बाद में सोलहवें पोप बेनेडिक्ट बने) ने भी पुष्टि की। पोप का कहना यह था कि ईसाई धर्म में वर्ग-संघर्ष की धारणा के लिए कोई जगह नहीं है। मार्क्सवाद की भौतिकवादी शिक्षाओं को अपनाने वालों का धर्मशास्त्र में अंतर्निहित भावातीत आयामों से कोई संबंध नहीं हो सकता।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख़ मार्क्स-1, 2. 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1, 2. 3, 4 5, 6, 7, 8 और 9, निष्क्रिय क्रांति, फ़्रेड्रिख़ एंगेल्स, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, कम्युनिस्ट

पार्टियाँ-1, 2 और 3, भारतीय इतिहास लेखन-4 और 5, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोलशेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेञ्ज फ़ानो, हिंसा, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1, 2, 3, 4 और 5, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, सांस्कृतिक क्रांति, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, वर्ग और वर्ग-संघर्ष, व्लादिमिर इलिच लेनिन।

संदर्भ

1. गुस्तावो गुतिरेज़, *अ थियोलॉजी ऑफ लिबेरेशन*, ओरबिस, न्यूयॉर्क.
2. लियोनार्डो बॉफ और सी. बॉफ, *इंट्रोड्यूसिंग लिबेरेशन थियोलॉजी*, बर्न्स एंड ओट्स, टर्नब्रिज वेल्स.
3. पॉल फ्रेरे, *पेडागॉजी ऑफ द ऑप्रेस्ड*, हर्डर एंड हर्डर, न्यूयॉर्क
4. आर. हाइस्ट, *एन आल्टरनेटिव विज़न : एन इंटरप्रिटेशन ऑफ लिबेरेशन थियोलॉजी*, पॉलिस्ट प्रेस, माहवाह, एन.जे.

— अभय कुमार दुबे

लियोन ट्रॉट्स्की

(Leon Trotsky)

प्रतिभाशाली मार्क्सवादी चिंतक, नेतृत्व के करिश्माई गुणों से सम्पन्न, प्रचुर लेखक और नाटकीय वक्ता लियोन ट्रॉट्स्की (1879-1940) सोवियत क्रांति के शीर्ष नेताओं में से एक थे। क्रांति के बाद हुए भीषण गृह युद्ध में विजयी रही लाल सेना की कमान ट्रॉट्स्की के हाथ में ही थी। एक सिद्धांतकार के रूप में स्थायी क्रांति की थियरी के जरिये मार्क्सवादी विमर्श में योगदान किया। इसके साथ ही ट्रॉट्स्की ने एक नियम का प्रतिपादन भी किया कि पूँजीवाद के विकास का स्तर सभी जगह एक सा नहीं होता जिसका परिणाम पिछड़े देशों में सामाजिक और ऐतिहासिक विकास के दो चरणों के एक साथ घटित हो जाने में निकलता है। बीसवीं सदी के पहले दशक में मार्क्सवादियों के बीच चल रहे बहस-मुबाहिसे के बीच ट्रॉट्स्की की इस सैद्धांतिक उपलब्धि ने रूस जैसे औद्योगिक रूप से पिछड़े देश में क्रांति करने के तर्क को मज़बूती प्रदान की। लेनिन के देहांत के बाद ट्रॉट्स्की ने स्तालिन द्वारा प्रवर्तित एक देश में समाजवाद की स्थापना के सिद्धांत का विरोध किया, लेकिन वे पार्टी के भीतर होने वाले संघर्ष में अकेले पड़ते चले गये। पहले उन्हें पार्टी से निकाला गया, और फिर सोवियत राज्य के ख़िलाफ़ साज़िश करने के आरोप में देश-निकाला दे

दिया गया। निष्कासन के दौरान ट्रॉट्स्की ने स्तालिन के नेतृत्व में बन रहे सोवियत संघ की कड़ी आलोचना करते हुए उसे नौकरशाह, निरंकुश और राजकीय पूँजीवादी राज्य की संज्ञा दी। सोवियत सीक्रेट पुलिस से बचने के लिए सारी दुनिया में भटकते हुए ट्रॉट्स्की ने *परमानेंट रेवोल्यूशन* (1930), *रेवोल्यूशन बिट्टेड* (1937) और तीन खण्डों में *द हिस्ट्री ऑफ रशियन रेवोल्यूशन* (1931-33) जैसे क्लासिक ग्रंथ की रचना की। विश्व-क्रांति के अपने सपने को धरती पर उतारने के लिए उन्होंने चौथे कम्युनिस्ट इंटरनैशनल की स्थापना भी की जिसे कोई ख़ास कामयाबी नहीं मिली। निष्कासन के दौरान ही मैक्सिको में स्तालिन के एक एजेंट के हाथों उन्हें जान से हाथ धोना पड़ा। ट्रॉट्स्की के अनुयायियों ने दुनिया के कई देशों में छोटी-छोटी कम्युनिस्ट पार्टियाँ बना रखी हैं। सोवियत शैली के कम्युनिज़म के विकल्प के रूप में उनके विचारों को ट्रॉट्स्कीवाद की संज्ञा मिल चुकी है।

ट्रॉट्स्की का असली नाम लेव डेविडोविच ब्रॉस्टीन था। बहुत कम उम्र में ही वे मार्क्सवाद के प्रति आकर्षित हुए और भूमिगत राजनीति करते हुए ट्रॉट्स्की का गुप्त नाम अपना लिया। उनके जीवन को तीन भागों में बाँट कर देखा जा सकता है। पहला हिस्सा वह है जब रूसी मार्क्सवाद के एक स्वतंत्र हस्ताक्षर की तरह वे क्रांतिकारी आंदोलन में भाग लेते हुए पहले लेनिन के नज़दीक आये और फिर उनका साथ देने से इनकार कर दिया। दूसरा हिस्सा 1917 से शुरू हो कर 1923 तक चला जब उन्होंने लेनिन के साथ कंधे से कंधा मिला कर सोवियत क्रांति को अग्रगति प्रदान की। इसके बाद उनके जीवन का तीसरा दौर शुरू हुआ जब उन्होंने क्रांति के लाभों की रक्षा करने के लिए स्तालिनवाद के ख़िलाफ़ अभियान छेड़ा।

बोलशेविक नेताओं में केवल ट्रॉट्स्की ही ऐसे थे जिन्हें लेनिन का प्रमुख साथी होने के बावजूद उनके अनुयायी के तौर पर नहीं देखा जाता था। 1903 में रूसी सामाजिक जनवादी मज़दूर पार्टी (आरएसडीएलपी) जब बोलशेविकों और मेशेविकों में विभाजित हुई, तो ट्रॉट्स्की ने लेनिन का साथ नहीं दिया। शुरुआत में उन्होंने बोलशेविज़म की यह कह कर निंदा की कि यह तो सर्वहारा की नहीं बल्कि सर्वहारा पर तानाशाही का फ़ॉर्मूला है। उस समय उन्हें शक था कि लेनिन रॉक्सपियरे जैसे षड्यंत्रकारी नेता हैं जिनके कारण रूस का समाजवादी आंदोलन पथभ्रष्ट हो जाएगा। उस समय ट्रॉट्स्की का विचार था कि ख़ुफ़िया राजनीतिक काम करने वाली पेशेवर क्रांतिकारियों की अनुशासित पार्टी के हाथ में क्रांति की कमान देने से समाजवाद का लक्ष्य नहीं हासिल किया जा सकता। वे एक अधिक लोकतांत्रिक और खुले चरित्र की पार्टी बनाने के पक्ष में थे। 1905 में वे सेंट पीटर्सबर्ग की सोवियत नेता के रूप में उभरे। रूस की इस पहली सोवियत



लियोन ट्रॉट्स्की (1879-1940)

ने 1905 की क्रांति में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया था, और ट्रॉट्स्की इसे प्रामाणिक लोकतंत्र का नमूना मानते थे। क्रांति विफल हो जाने के बाद ज़ारशाही ने उन्हें गिरफ्तार करके साइबेरिया भेज दिया। ट्रॉट्स्की वहाँ से भाग निकले और अगला दशक उन्होंने युरोप में गुजारा। इस दौरान सांगठनिक रूप से वे मेशेविकों के साथ रहे। 1917 में वे रूस लौटे जब फ़रवरी क्रांति के कारण ज़ारशाही का पतन हो चुका था। इस मुकाम पर वे बोल्शेविकों के साथ आ गये क्योंकि उन्हें लगा कि उनके और लेनिन के विचारों में काफ़ी समानता आ चुकी है। स्वयं लेनिन ट्रॉट्स्की की राजनीतिक और सैद्धांतिक क्षमताओं के प्रशंसक थे। बोल्शेविक पार्टी में ट्रॉट्स्की का क्रम तेज़ी से बढ़ा। उन्होंने विदेशी मामलों के कमिसार के तौर पर जर्मनों के साथ शांति-वार्ता में भाग लिया। फ़ौजी कमिसार के रूप में ट्रॉट्स्की ने लाल सेना के गठन में प्रमुख भूमिका निभायी और गृह युद्ध में उसका शानदार नेतृत्व किया। इन सफलताओं के कारण ट्रॉट्स्की को लेनिन के सम्भावित उत्तराधिकारियों में एक के रूप में देखा जाने लगा।

लेनिन की ही तरह ट्रॉट्स्की को रूसी सर्वहारा वर्ग की रचनात्मक क्षमताओं में गहरा यक़ीन था। इस विश्वास के आधार में विश्व-पूँजीवाद के अध्ययन से निकली उनकी एक खास तरह की सैद्धांतिक समझ थी। ट्रॉट्स्की का विचार था कि अपने पिछड़ेपन से छुटकारा पाने के लिए किसी देश को उन चरणों से क्रमवार गुज़रने की ज़रूरत नहीं होती जिनसे

विकसित देश गुज़र चुके होते हैं। इन देशों में पिछड़ेपन के साथ-साथ अगड़ेपन के लक्षण भी उभरते हैं। इस थियरी के आधार पर विश्लेषण करते हुए ट्रॉट्स्की ने दिखाया कि रूस का ज़्यादातर हिस्सा पिछड़ा और अविकसित है लेकिन उसमें पश्चिमी प्रभावों ने भी घुसपैठ कर ली है। कई जगहों पर आर्थिक उत्पादन और संबंधों के विकसित तौर-तरीके अपनाए जाने लगे हैं। औद्योगिक विकास के इन मुकामों ने शहरी केंद्रों में एक अच्छा-खासा सर्वहारा वर्ग और एक पश्चिमीकृत बौद्धिक अभिजन पैदा कर दिया है। परिणामस्वरूप राजनीतिक प्रतिरोध और सक्रियता के रैडिकल रूप प्रचलित हो गये हैं। चूँकि उद्योगीकरण ऊपर से थोपा गया है इसलिए स्थानीय पूँजीपति वर्ग कमज़ोर है, लेकिन सर्वहारा वर्ग मज़बूत है। पूँजीवादी वर्ग लोकतांत्रिक क्रांति करने से डरता है और अपनी अक्षमता के कारण अपना ऐतिहासिक दायित्व नहीं निभा पा रहा है, इसलिए यह ज़िम्मेदारी सर्वहारा वर्ग के कंधों पर आ गयी है। किसानों को अपने नेतृत्व में लेते हुए उनके साथ मोर्चा बना कर मज़दूर वर्ग को सामंतशाही और उसके सभी अवशेषों का उन्मूलन करते हुए समाजवाद की तरफ बढ़ना होगा।

ट्रॉट्स्की ने अपने सिद्धांत को स्थायी क्रांति क्रार दिया। 1850 में मार्क्स कम्युनिस्ट लीग की जनरल कौंसिल को संबोधित करते हुए इस पद का इस्तेमाल कर चुके थे। ट्रॉट्स्की के मुताबिक प्राक-पूँजीवादी मानसिकता वाले किसान इस क्रांतिकारी प्रक्रिया में मज़दूरों का साथ बहुत दूर तक नहीं दे पाएँगे। उनकी दिलचस्पी ज़मीन का मालिकाना मिल जाने तक ही रहेगी। किसानों के साथ बनाया गया जो मोर्चा क्रांति के लिए रास्ता साफ़ करता है, वही समाजवाद की रचना में बाधक साबित होगा। इसलिए एक देश में, खास कर रूस में, समाजवाद का निर्माण तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक अन्य देशों में भी क्रांति नहीं हो जाती। इसलिए रूस की क्रांति को विश्व-क्रांति, खास कर विकसित देशों में क्रांति के शुरुआती चरण के तौर पर ही देखा जाना चाहिए। दिलचस्प बात यह है कि ट्रॉट्स्की की इन बातों और प्रथम विश्व-युद्ध के बाद लेनिन द्वारा प्रतिपादित कई सिद्धांतों में काफ़ी समानता प्रतीत होती है। कुछ ट्रॉट्स्कीवादियों ने यह आरोप भी लगाया है कि 1917 की क्रांति में लेनिन द्वारा ट्रॉट्स्की के ही सिद्धांतों का इस्तेमाल किया गया था। यह अलग बात है कि खुद ट्रॉट्स्की ने 1917 में लेनिन का नेतृत्व स्वीकार करने के बाद कभी ऐसा नहीं कहा।

लेनिन की मृत्यु के बाद स्तालिन ने एक देश में समाजवाद के निर्माण की थीसिस तैयार की। इस मामले में बुखारिन जैसे सिद्धांतकार भी स्तालिन के साथ थे। पर ट्रॉट्स्की ने चेतावनी दी कि इस थियरी पर अमल करने के नतीजे रूस के लिए विनाशकारी निकलेंगे। उन्होंने कहा कि

खेती के सामूहिकीकरण का वक्त अभी नहीं आया है। ट्राॅट्स्की लेनिन द्वारा स्थापित कोमिंटेर्न (कम्युनिस्ट इंटरनैशनल) को सोवियत विदेश नीति के औजार में सीमित कर देने के भी खिलाफ़ थे। उनका तर्क था कि सोवियत संघ को उद्योगीकरण और आधुनिकीकरण के रास्ते पर जरूर चलना चाहिए, पर इन उपलब्धियों को समाजवाद का पर्याय नहीं समझा जा सकता। समाजवाद का मतलब है श्रम की ऊँची उत्पादकता, उसके परिणामस्वरूप बेहतर जीवन-स्तर और अपने पूँजीवाद के सर्वाधिक विकसित रूपों जैसा समाज। यह तभी हो सकता है कि जब सर्वहारा के हाथ में विश्व-अर्थव्यवस्था की बागडोर हो। ट्राॅट्स्की का कहना था कि स्तालिन के तहत जो सोवियत व्यवस्था है, उसे महज़ संक्रमणकालीन समझा जाना चाहिए। अभी इस बात की गारंटी नहीं की जा सकती कि इसका विकास समाजवाद में होगा या यह पतित हो कर पूँजीवाद के किसी संस्करण में बदल जाएगी। ट्राॅट्स्की मानते थे कि रूस पर हुकूमत कर रही नौकरशाही एक नये वर्ग की शकल लेती जा रही है। भले ही सोवियत समाज राजकीय पूँजीवाद की स्थिति में न पहुँचा हो, लेकिन उसकी स्थिति मज़दूरों के एक कमतर राज्य जैसी तो है ही।

ट्राॅट्स्की के विचारों की ख़ास बात यह थी कि उनमें मार्क्सवाद को हर समस्या की अचूक औषधि के रूप में देखने की प्रवृत्तियों का विरोध निहित था। इसी तरह वे मार्क्सवाद के नाम पर कला-साहित्य और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों को एक ख़ास दिशा में धकेले जाने के भी खिलाफ़ थे। अपने इन रैडिकल विचारों के बावजूद वे पार्टी का बहुमत अपने पक्ष में नहीं कर सके। पार्टी के भीतर उन्हें एक ऐसे नेता के रूप में देखा जाता था जो संकट आने पर तो करिश्माई नेतृत्व प्रदान कर सकता है, लेकिन पार्टी के भीतर होने वाली रोज़मर्रा की उठा-पटक से निबटने में दिलचस्पी नहीं रखता, और जो अपनी बौद्धिक चमक-दमक में अकेला रहना पसंद करता है। जब ट्राॅट्स्की की उम्मीदों के मुताबिक़ युरोप में क्रांति नहीं हुई, तो उन्होंने विश्व-क्रांति का लक्ष्य छोड़ कर केवल एक देश में समाजवाद का निर्माण करने में लग जाने की स्तालिनीय परियोजना को इसका जिम्मेदार ठहराया। ट्राॅट्स्की ने यह कभी नहीं माना कि स्तालिनकालीन गलतियों की जड़ में पार्टी और राजनीति का लेनिनिस्ट-बोल्शेविक विचार है जिसके कारण एक पार्टी द्वारा संचालित राज्य पूरे समाज को अपना ताबेदार बनाने में कामयाब हो गया है। दरअसल, ट्राॅट्स्की ने जीवन के तीसरे दौर में निष्कासन भोगते हुए भी 1903 से 1914 के बीच की गयी लेनिन और बोल्शेविकवाद की अपनी कठोर आलोचनाओं को कभी नहीं दोहराया।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ाई लांगे, आंगिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1

से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रैंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. आइज़क ड्यूशर (1954, 1959, 1963), *द प्रोफ़ेट आम्ड, द प्रोफ़ेट अनआम्ड, द प्रोफ़ेट आउटक्रास्ट*, तीन खण्ड, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
2. ई. मैडल (1995), *ट्राॅट्स्की एज़ आल्टरनेटिव*, वरसो, लंदन.
3. लियोन ट्राॅट्स्की (1973-79), *राइटिंग्स ऑफ़ लियोन ट्राॅट्स्की*, सम्पा. जी. ब्रीटमैन वगैरह, 1929-1940, चौदह खण्ड, पाथफ़ाइंडर प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. बी. नी-पैज़ (1978), *द सोशल एंड पॉलिटिकल थॉट ऑफ़ लियोन ट्राॅट्स्की*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

लुई अलथुसे

(Louis Althusser)

फ्रांसीसी दार्शनिक लुई अलथुसे (1918-1990) मार्क्सवाद के एक ऐसे बहुचर्चित और प्रभावशाली व्याख्याकार थे जिन्होंने बीसवीं सदी के छठे दशक में पश्चिम के अकादमिक जगत में संरचनावादी सूत्रों और औजारों का इस्तेमाल करके एक अनूठा भाष्य खड़ा किया। गौरतलब है कि मार्क्सवाद और संरचनावाद विचारों की दो विपरीतधर्मी पद्धतियाँ हैं। मार्क्सवाद में सामाजिक ऐतिहासिक विश्लेषण को प्रमुखता दी जाती है जबकि संरचनावाद में सामाजिक ऐतिहासिक दृष्टि की कोई उपयोगिता नहीं समझी जाती। अलथुसे के इस संश्रय ने मार्क्सवाद के दायरों में एक व्यापक बहस का सूत्रपात किया था। अलथुसे की रचनाएँ *फ़ॉर मार्क्स* तथा *रीडिंग कैपिटल* मार्क्स के चिंतन और कृतित्व को मौलिक ढंग से प्रश्नांकित करती हैं। अलथुसे छठे दशक में प्रचलित



लुई अलथुसे (1918-1990)

मार्क्सवाद के रूमानी संस्करण के लिए एंतोनियो ग्राम्शी तथा फ्रैंकफर्ट स्कूल के चिंतकों को जिम्मेदार मानते थे। उनका कहना था कि इन विचारकों ने अपने मानवतावादी आग्रहों के मोह में मार्क्स को महज मनुष्य के बेगानेपन का सिद्धांतकार बना दिया था। अलथुसे के मुताबिक मार्क्सवाद का यह रूमानी संस्करण मार्क्स की दृष्टि के सबसे प्रबल तत्त्व वैज्ञानिकता को अपदस्थ कर देता है। हालाँकि अलथुसे यह तो स्वीकार करते हैं कि युवावस्था के दौरान मार्क्स ने बेगानेपन जैसे मसलों पर निश्चय ही विचार किया था, लेकिन 1844 की पेरिस पांडुलिपियों के बाद मार्क्स खुद ही अपने विश्लेषण में मानवतावादी और नैतिक उद्बोधन की प्रवृत्तियों से मुक्त होने लगे थे।

इस तरह अलथुसे मार्क्स के चिंतन में दो अवधियों को लक्षित करते हैं। उनके मुताबिक मार्क्स के शुरुआती लेखन में मानवतावादी और सैद्धांतिक विवेचन की प्रधानता है जबकि दूसरी अवधि में उनका लेखन वैज्ञानिकता से लैस होने लगता है। *दास कैपिटल* को अलथुसे दूसरी अवधि की रचना मानते हैं जिसमें मार्क्स एक प्रौढ़ वैज्ञानिक चिंतक के रूप में प्रकट होते हैं। अलथुसे का आग्रह था कि *दास कैपिटल* को एक लाक्षणिक पाठ की तरह पढ़ा जाना चाहिए ताकि उसके विमर्श में न्यस्त अनुपस्थितियों, अंतरालों और चुप्पियों को उजागर किया जा सके। मार्क्स के कृतित्व की इन दो अवस्थाओं के बीच एक स्पष्ट अंतर को चिह्नित करते हुए अलथुसे उसे ज्ञानमीमांसागत विच्छिन्नता कहते हैं।

परवर्ती मार्क्सवाद को एक पूर्ण वैज्ञानिक चिंतन घोषित करते हुए अलथुसे प्रतिपादित करते हैं कि पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की आर्थिक संरचना उद्घाटित करने की प्रक्रिया में मार्क्स एक नये विज्ञान का विकास करते हैं जो न केवल पूँजीवाद की पड़ताल करता है बल्कि अपने विकास की परिस्थितियों का भी निरूपण करता है। लेकिन इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि मार्क्स की उपलब्धियों और समझ की कुछ सीमाएँ भी हैं। अलथुसे का मानना है कि उनका यह बौद्धिक हस्तक्षेप मार्क्सवादी विज्ञान के रिक्त स्थानों को भरने का प्रयत्न है।

अलथुसे हीगेल के इन बुनियादी विचार सूत्रों को अस्वीकार करते हैं कि इतिहास द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के जरिये आगे बढ़ता है तथा पूर्ण के आधार पर उसके खंडों का निर्धारण किया जा सकता है। हीगेल के इन अमूर्त विचारों को अलथुसे वैज्ञानिक लिहाज से अनुपयोगी समझते हैं। उन्हें मार्क्सवाद का वह द्विभाजन भी दिक्कत तलब लगता है जिसके तहत आर्थिक संरचना को आधार तथा सांस्कृतिक व वैचारिक ढाँचे को अधिरचना में विभाजित कर दिया जाता है। इन अवधारणाओं की जगह अलथुसे अंतर्विरोध तथा अतिनिर्धारण के पदों का इस्तेमाल करते हैं।

अलथुसे पूँजीवाद को एक ऐसी व्यवस्था मानते हैं जो अपनी बनावट में ही अंतर्विरोधी है, क्योंकि इस व्यवस्था में एक तरफ मजदूर और पूँजीपतियों के हितों में टकराव रहता है तो दूसरी तरफ निजी हित और सार्वजनिक हित एक दूसरे के खिलाफ खड़े रहते हैं। लेकिन इसके बावजूद उन्हें लगता है कि मार्क्सवादी विश्लेषण को आर्थिक विश्लेषण की रटत से आगे बढ़ना चाहिए। अलथुसे की तर्क-योजना में प्रत्येक अंतर्विरोध पहले से ही अतिनिर्धारित होता है क्योंकि राजनीति, विचारधारा तथा अर्थशास्त्र में मौजूद अंतर्विरोध एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। अलथुसे के अनुसार राजनीति या अर्थशास्त्र जैसे क्षेत्र न केवल अपेक्षाकृत स्वायत्त होते हैं बल्कि उनकी एक अपनी एक अंदरूनी गतिशीलता भी होती है। लेकिन इसके बावजूद वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसलिए अगर राजनीति के दायरे में कोई घटना घटती है तो वह आर्थिक गतिविधियों और फ़ैसलों को भी प्रभावित कर सकती है। अलथुसे के तर्क उत्पादन का प्रणाली का कोई केंद्र नहीं होता। इसलिए सामाजिक संरचना के वैचारिक, राजनीतिक और आर्थिक तत्त्वों की केवल आर्थिक कारकों के आधार पर व्याख्या नहीं की जा सकती। हालाँकि अलथुसे यह भी स्वीकार करते हैं कि अंततः किसी भी उत्पादन प्रणाली में उसका आर्थिक पहलू ही निर्णायक होता है लेकिन ऐसा अंतिम स्थिति में ही होता है। और ऐसी आखिरी घड़ी कभी-कभार ही आती है।

अलथुसे द्वारा प्रतिपादित विचारधारा का सिद्धांत मार्क्सवादी दर्शन में उनका विशिष्ट योगदान माना जाता है। अनेक मार्क्सवादी व्याख्याकारों की तरह अलथुसे विचारधारा को सिर्फ सामाजिक जीवन की भ्रांत व्याख्या कहकर नहीं रुक जाते। उनके अनुसार विचारधारा ही व्यक्ति या समूहों की चेतना का निर्माण करती है। और इस नाते वह व्यक्ति या समूह के दृष्टिकोण और मूल्यों को भी रचती है। फ्रांयड की तरह अलथुसे भी यह दलील देते हैं कि विचारधाराएँ अवचेतन के स्तर पर सक्रिय रहती हैं। विचारधारा का आशय स्पष्ट करने के लिए अलथुसे लकाँ की अवधारणा— इमैजिनरी का भी उपयोग करते हैं जो यह बताती है कि मनुष्य का जीवन अपने और दूसरों के बारे में कुछ छवियों तथा फ्रंतासियों के इर्द-गिर्द संगठित होता है। इस तरह व्यक्ति का अपने अस्तित्व की वास्तविक परिस्थितियों से प्रत्यक्ष नहीं बल्कि एक काल्पनिक संबंध होता है। व्यक्ति इस संबंध को वास्तविक मानता है जबकि अन्य व्यक्तियों के साथ उसके संबंध एक प्रतीति भर होते हैं। इस अर्थ में अलथुसे के लिए विचारधारा एक काल्पनिक संबंध का प्रतिनिधित्व करती है। विचारधारा के इस संदर्भ में अलथुसे व्यवस्था-तंत्र और समाज के संबंधों की संरचना का विश्लेषण करते हुए व्यवस्था की विचारधारा का प्रचार-प्रसार करने वाले उपकरणों की भी निशानदेही करते हैं। अलथुसे जोर देकर कहते हैं कि परिवार, शैक्षिक संस्थाएँ, धर्म और कानून व्यवस्था आदि वास्तव में इस विचारधारा के उपकरण होते हैं जिन्हें व्यक्ति या समूह अपनी चेतना में इस क्रूर आत्मसात कर लेता है कि उनसे निर्धारित होने वाले व्यवहार को आदर्श मान लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति और समाज राज्य व्यवस्था के कुछ खास विचारों, मूल्यों और जीवन-दृष्टि को स्वतःस्फूर्त ढंग से अपनाते चले जाते हैं।

अलथुसे के अनुसार हम विचारधारा में अंतस्थ (इंटरपेलेटिड) होते हैं लेकिन हमारा दावा यह होता है कि हम सब कुछ अपनी मर्जी से करते हैं। इस तरह विचारधारा ही मनुष्य को गढ़ने लगती है। चूँकि वह मनुष्य को कर्ता भी बनाती है और उसे एक संज्ञा भी देती है इसलिए व्यक्ति खुद को स्वायत्त या स्वतंत्र समझने लगता है। लेकिन ईश्वर तथा राष्ट्र जैसी सार्वभौम अवधारणाओं को अनुष्ठानों और परम्पराओं की शकल देकर हम विचारधारा का ही अनुसरण कर रहे होते हैं। परंतु कर्ता या व्यक्ति के विचार की तरह ऐसे विश्वासों की अहमियत भी मिथक से ज्यादा नहीं होती। व्यक्ति इन संरचनाओं का निर्माता होने के बजाय उनका वाहक होता है। अलथुसे यह भी दिखाते हैं कि व्यक्ति का जीवन श्रम-विभाजन तथा निजी पूँजी जैसे भौतिक दबावों से रचित होता है जो उसकी चेतना या बोध की पकड़ में नहीं आ पाते। पर साथ ही उसे भाषा और यौनिकता जैसी

अभौतिक संरचनाएँ भी प्रतिकृत करती हैं।

उल्लेखनीय है कि अलथुसे की स्थापनाएँ एक तरह से क्रांति की सम्भावना को खारिज करती है। मसलन, एक तरफ लेनिन तो यह प्रतिपादित करते हैं कि बदलाव अंतर्विरोधी शक्तियों के द्वंद्व का परिणाम होता है जबकि अलथुसे जाँक लकाँ की अवधारणा को आधार बनाकर यह तजवीज करते हैं कि किसी व्यवस्था की अंतर्विरोधी शक्तियाँ एक समग्रता के दायरे में काम करती हैं। इस समग्रता में अंतर्विरोधी शक्तियाँ हर समय एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं जिन्हें सामान्य और उपयोगपरक अवधारणाओं में घटाना सम्भव नहीं होता। ऐसे में किसी एक शक्ति को प्रधान मानना एक भ्रांति ही होगी। अलथुसे ने लकाँ की इस अवधारणा का सामाजिक संरचना के विश्लेषण में इस्तेमाल करते हुए यह कहा कि समाज में एक विकेंद्रित समग्रता होती है जिसमें हर तत्त्व अपनी विशिष्ट परिस्थितियों, संबंधों, गतिशीलता और प्रकृति के आधार पर इस समग्रता को प्रभावित करता है। इसलिए किसी भी व्यवहार को दूसरे का उपलक्षण नहीं कहा जा सकता। इस तरह राजनीति के क्षेत्र में वर्ग-संघर्ष को महज पूँजी और मजदूरों के बीच का आर्थिक संघर्ष कहना ग़लत होगा, क्योंकि तमाम सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष समाज की संरचना में अलग अलग बिंदुओं पर स्थित होते हैं और एक दूसरे को निरंतर प्रभावित-निर्धारित करते रहते हैं। जाहिर है कि अलथुसे इस समग्रता में कोई सार-तत्त्व नहीं देखते। इसलिए वे यह भी कहते हैं कि इतिहास को रैखिक विकास के रूप में नहीं समझा जा सकता।

मार्क्सवाद की व्याख्या और विचारधारा के विश्लेषण में मनोवैज्ञानिक प्रस्थापनाओं का इस्तेमाल करने के कारण अलथुसे का प्रभाव खासा व्यापक रहा है। फूको और देरिदा जैसे गैर-मार्क्सवादी विद्वानों पर उनका यह प्रभाव खास तौर पर देखा जा सकता है। ऐसे विद्वानों ने अलथुसे के इस सूत्रीकरण को विभिन्न रूपों में आत्मसात् किया है कि मनुष्य संरचनाओं को नहीं बनाता बल्कि संरचनाएँ ही मनुष्य को गढ़ती हैं। अलथुसे की तरह वे भी समाज को एक अकेंद्रित सम्पूर्णता की तरह देखते हैं जिसमें आर्थिक, राजनीतिक और वैचारिक तत्त्व एक दूसरे में इस तरह धँसे होते हैं कि समाज की संरचना में किसी एक तत्त्व को दूसरे के मुकाबले ज्यादा प्राथमिकता नहीं दी जा सकती।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूर्च्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफर्ट स्कूल, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रैंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद

और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोजा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, संशोधनवाद, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमो, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, क्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. बी. स्टीवन स्मिथ (1994), *रीडिंग अलथुसे : एन एस्से ऑन स्ट्रक्चरल मार्क्सिज़्म*, कॉर्नल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका, न्यूयॉर्क.
2. आर.पी. रेश (1992), *अलथुसे एंड द रिनुअल ऑफ़ मार्क्सिस्ट सोशल थियरी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.
3. ई.ए. कैपलन तथा एम. स्पिंकलर (सम्पा.) (1993), *द अलथुसेरिअन लीगेसी*, वर्सो, न्यूयॉर्क.
4. डब्ल्यू. मोन्टैग (2003), *लुई अलथुसे*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क.

— नरेश गोस्वामी

ल्यूस इरिगरे

(Luce Irigaray)

बेल्जियम में जन्मी लेकिन ज्यादातर समय फ्रांस में रहीं नारीवादी दार्शनिक, भाषाशास्त्री और मनोविश्लेषक ल्यूस इरिगरे (1932-) ज्ञान के क्षेत्र में अपने इस दावे के लिए विख्यात हैं कि विचारों की पुरुष प्रधान प्रणालियाँ स्त्री और उसकी कामना को समझ पाने, उसे अभिव्यक्त कर पाने और उसका प्रतिनिधित्व कर पाने में पूरी तरह से विफल हैं। इरिगरे ने अपनी दो रचनाओं *स्पेकुलम ऑफ़ द अदर वुमॅन* और *द सेक्स विच इज़ नॉट वन* के जरिये पुरुषवादी दार्शनिक विचार का विकल्प सूत्रीकृत करने के अनूठे प्रयास किये हैं। नारीवादी विमर्श की दुनिया में इरिगरे हेलन सिचू और जूलिया क्रिस्टेवा के साथ मिल कर विदुषियों की वह त्रयी बनाती हैं जो स्त्री की विशिष्ट सेक्सुअलिटी को उसकी विशिष्ट भाषा के साथ जोड़ कर देखती है। लेकिन, इरिगरे सिचू और क्रिस्टेवा से एक मायने में अलग भी हैं। वे मानती हैं अपने विशिष्ट ऐंद्रिक अनुभव में स्त्री अनन्या है। इरिगरे के विमर्श में स्त्री की ऐंद्रिक अन्यता इतनी रैडिकल है कि उसे अलग अस्मिता की तरफ ले जाती है। इसी ऐंद्रिक अन्यता के आधार पर वे एक ऐसी भिन्न सांकेतिक व्यवस्था की कल्पना करती हैं जिसमें स्त्री के पुरुष से विभेद का उत्सव मनाया जा सकता है। इरिगरे का आधारभूत तर्क यह है कि स्त्री को अपनी

सेक्सुअलिटी के दमन के लिए हमेशा मजबूर किया गया है, और जब वह उसे दोबारा हासिल करेगी तो उसके बेइतिहा मुक्तिकामी प्रभाव होंगे। इरिगरे के ऊपर तात्त्विकतावाद के चक्कर में फँसने का आरोप भी लगाया गया है, लेकिन उनके विचारों ने उत्तर-नारीवादी विमर्श को भी गहरायी से प्रभावित किया है।

इरिगरे ने अपने बौद्धिक करियर की शुरुआत ज़ाक लकॉ द्वारा स्थापित फ़्रॉयडवादी मनोविश्लेषकों की संस्था ईकोल फ़्रॉयदीन द पारिआ की सदस्यता से की थी। लेकिन जब उन्होंने मनोविश्लेषण की कड़ी आलोचना की तो उन्हें इस संस्था से निष्कासित कर दिया गया। इरिगरे का कहना था कि मनोविश्लेषण को पितृसत्ता की जाँच के विमर्श के तौर पर पेश किया जाता है, पर दरअसल वह पितृसत्ता का ही एक उदाहरण है। 1974 में वे अपने मतभेदों के प्रभावशाली सूत्रीकरण के साथ उस समय सामने आयीं जब उनकी पुस्तक *स्पेकुलम ऑफ़ द अदर वुमॅन* प्रकाशित हुई। स्पेकुलम (वक्राकार दर्पण नुमा वीक्षण-यंत्र) के जरिये स्त्री के यौनांगों की जाँच की जाती है। स्पेकुलम का इस्तेमाल करके पुरुष चिकित्सक स्त्रीत्व के भीतर झाँकता है, लेकिन उसे उस वक्राकार दर्पण में महज़ अपना ही अक्स दिखाई पड़ता है। इस रचना में इरिगरे ने प्लेटो से लेकर फ़्रॉयड तक पश्चिमी विचार की पुरुषवादी संरचना को आड़े हाथों लिया।

इरिगरे के मुताबिक प्लेटो का दर्शन हिस्टिरा (गुफ़ा यानी उद्गम यानी स्त्री का गर्भ) के आकारहीन रूप के ऊपर एक विन्यास थोपने की कोशिश करता है। इस प्रक्रिया में गुफ़ा दमित होती है, उसका बहिर्वेशन होता है। थोपे गये विन्यास के बाहर जो रह गया है, उसकी न तो कोई शिनाख़्त है, न ही कोई विशिष्टता है और न ही उसे व्यक्त किये जाने काबिल समझा जाता है। इरिगरे फ़्रॉयड द्वारा किये गये सेक्सुअलिटी के अध्ययन की कड़ी समीक्षा करती हैं। वे मानती हैं कि फ़्रॉयड का चिंतन विमर्श के दार्शनिक विन्यास को बदलने का अवसर प्रदान करता है, लेकिन सेक्सुअल भिन्नता पर विचार करते ही वह खुद उसी विन्यास की मातहत में चला जाता है। जब फ़्रॉयड कहते हैं, 'अब हमें छोटी बच्ची को छोटे से पुरुष के रूप में देखना होगा', तो वे दो लिंगों का विभेद पहले से निर्धारित पुरुषवादी दृष्टि से ही देख रहे हैं। उनकी निगाह में उस छोटी सी बच्ची को अंततः पुरुष ही बनना है, बस उसमें कुछ बातें या कुछ गुण अलग तरह के होंगे।

इरिगरे के मुताबिक फ़्रॉयड की मनोवैश्लेषिक प्रणाली फ़ैलस यानी लिंग की प्रधानता के इर्द-गिर्द बुनी गयी है। चूँकि स्त्री के पास लिंग नहीं है, इसलिए लिंग की कमी ही उसकी परिभाषा का आधार बन जाती है। फ़्रॉयड स्त्री को लिंग उपलब्ध करने की कामना की कामना में जड़ीभूत देखते



ल्यूस इरिगरे (1932-)

हैं, और उसकी यह कामना कभी पूरी नहीं हो सकती। इसलिए स्त्री की भूमिका केवल ऐसे पात्र की रह जाती है जिसे पुरुष के 'उत्पाद' को अपने भीतर रखना भर है। फ्रॉयड कहते हैं कि बालिका का सेक्सुअल सफ़र भगनासा से योनि-प्रदत्त आनंद के मुकाम तक होता है जिसके कारण वह पुरुष के लिए वह सुराखनुमा म्यान बन जाती है जिसका काम शिशु की मालिश करना भर है। इस तरह उनका विमर्श स्त्री की सेक्सुअलिटी और यौनानंद को अदृश्य कर देता है। पुरुष के विमर्श और उससे जुड़ी संस्थाओं से स्त्री की सेक्सुअलिटी पूरी तरह से बहिष्कृत हो जाती है।

अपनी दूसरी महत्वपूर्ण रचना दिस *सेक्स विच इज़ नॉट वन* (1977) में इरिगरे ने फ्रॉयड और लकाँ के ख़िलाफ़ अपने असंतोष को और विस्तार दिया। उन्होंने लकाँ की इस धारणा का खण्डन किया कि स्त्री की भगनासा दरअसल एक छोटा शिशु-भर है। उन्होंने दावा किया कि स्त्री अपने यौन-सुख के लिए केवल जननांगों पर निर्भर नहीं है। इस पुस्तक में वे बताती हैं कि स्त्रीत्व के रूप में अन्य दरअसल है क्या। उनके अनुसार स्त्री के लिए यौन-सुख देखने में नहीं बल्कि स्पर्श में है। देखने (गेज़) का अर्थशास्त्र स्त्री को एक निष्क्रिय वस्तु में बदलना चाहता है। पर स्पर्श वह परिघटना है जो स्त्री के भीतर स्थित है और उसे ऐसी कामना का वाहक बना देता है जो देखने के अर्थशास्त्र द्वारा सीमित नहीं की जा सकती। उसकी योनि दो होंठों से मिल कर बनी है जो लगातार एक-दूसरे के स्पर्श में हैं। अपने भीतर वह दो है, पर उन दो को एक-एक के रूप में विभाजित करके अलग नहीं किया जा सकता। वे दोनों लगातार एक दूसरे को सहला रहे

हैं। इस तरह पुरुष सेक्सुअलिटी के एकल मुकाम यानी लिंग के मुकाबले उसका सेक्स दोहरा है। इन अर्थों में स्त्री के सेक्स की बहुल-प्रकृति समझी जा सकती है। उसके लिए जो परिभाषित किया गया है, उसका सेक्स हमेशा उसके आधिक्य में है, और अन्य के साथ उसका संबंध भी बुनियादी रूप से अलग है क्योंकि उस अन्य का मुकाम उसके भीतर ही है। इरिगरे का निष्कर्ष है कि स्वामित्व और सम्पत्तिशीलता के मुकाबले स्त्री निकटत्व के अर्थशास्त्र से संचालित होती है।

इरिगरे ने मनोविश्लेषण के फ्रॉयड और लकाँ द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत नारीवाद की कसौटियों पर कसे हैं। लकाँ के मुताबिक शिशु माँ से अलग हो कर भाषा की सांकेतिक व्यवस्था के जरिये पिता के संसार में पहुँचता है। *स्पेकुलम* में वे कहती हैं कि जो भाषा माँ से बच्चे की पृथकता सम्भव बनाती है, वह दरअसल पितृसत्तात्मक भाषा है। पुरुष इस भाषा के माध्यम से स्त्री को महज़ एक वस्तु के रूप में ही जान पाता है। शिशु अगर बेटा है तो सबसे पहले माँ का वस्तुकरण करता है और यहीं उसे माँ के साथ सम्भोग की वर्जना (इंसेस्ट या कौटुम्बिक व्यभिचार) का पता लगता है। अर्थात् भाषा का सांकेतिक विन्यास उसे अपने बारे में ज्ञान प्राप्त कराता है। लेकिन अगर शिशु बेटी है तो उसके लिए भाषा की वह सांकेतिक व्यवस्था निरर्थक है। वह उसे अपने बारे में ज्ञान प्राप्त करने में कोई मदद नहीं करती। भाषा का पितृसत्तात्मक विन्यास बेटी के लिए विजातीय और अनुपयुक्त रहता है। पितृसत्तात्मक भाषा-व्यवस्था के लिए स्त्री एक सम्भावित माँ होती है, न कि एक खुदमुखार कर्ता। चूँकि उसे भाषा का सान्निध्य नहीं मिल सका और इसीलिए वह समाज तक अपनी पहुँच से वंचित हो गयी, इसलिए स्त्री मनोविकृति के अंदेशे का पुरुष के मुकाबले अधिक सामना करती है। दूसरी तरफ़ इसी कारण से वह पितृसत्तात्मक भाषा-व्यवस्था के मुकाबले कहीं अधिक निजी भाषा की तरफ़ झुकती है जिसके जरिये एक स्त्री का दूसरी से संवाद सम्भव होता है।

इरिगरे कहती हैं कि भाषा के संसार में पितृसत्तात्मक बंदोबस्त अपना नैरंतर्य प्राप्त करता है, लेकिन भाषा के ही संसार में वह नैरंतर्य गड़बड़ाया जा सकता है। जैसे ही पितृसत्तात्मक सांकेतिक व्यवस्था में 'अन्य' यानी स्त्री का समावेशन होता है, पुरुष-विमर्श को लगता है कि स्त्री की भाषा तो उसकी समझ में ही नहीं आ रही है। दरअसल, स्त्री जो बोलती है वह हमेशा उसके इच्छित तात्पर्य के मुताबिक नहीं होता है, इसलिए कि भाषा स्त्रीपन को व्यक्त करने में असमर्थ है। ऑल्टरिटी (प्रत्यावर्तन) की इस स्थिति के मुकाम पर इरिगरे सुझाव देती हैं कि इसके माध्यम से मौजूदा संरचनाएँ बदली जा सकती हैं। स्त्री जब पुरुष विमर्श की प्रणाली में क्रदम रखती है तो पहले वह मिमिक्री करती हुई नज़र आती है। इसलिए उसकी भूमिका सुचिंतित तरीके से

समझनी पड़ती है। जब उसकी अधीनस्थता में निहित ताकत का तात्पर्य पकड़ में आयेगा, तभी वह दावेदारी में तब्दील होगी। इरिगरे के अनुसार स्त्री से उम्मीद की जाती है कि वह पुरुष 'कर्ता' की तरह बोलेंगी और भाषा के साथ उसका खिलवाड़ अदृश्य रहेगा। लेकिन स्त्री भाषा का बर्ताव करते हुए न तो कर्ता है और न ही वस्तु। वह तो सिद्धांत गढ़ने की मशीनरी ठप कर देना चाहती है। वह भाषा की एक ऐसी ज्यादती पेश करना चाहती है जो पितृसत्तात्मक भाषा-व्यवस्था को गड़बड़ा दे और वे तमाम भाषाई संरचनाएँ निरर्थक हो जाएँ जो स्त्री के सार को अधीनस्थता और शोषण के गहराइयों में झोंकने के लिए रची गयी थीं। इरिगरे ने जिस तरह का सिद्धांतीकरण किया, उसी तरह की भाषा रचने की कोशिश भी की। उनका लेखन शब्दों के खिलवाड़ और ऐसी वाक्य-रचना के लिए जाना जाता है जिसमें अर्थों और तात्पर्यों को पकड़ने की प्रचलित सुविधा नहीं मिलती। एक पंक्ति में कहें तो इरिगरे की मान्यता यह है कि स्त्री-भाषा भी यौन-तंत्रियों की तरह बहुकेंद्रीय होती है। उनकी भाषा रैखिक और प्रयोजनमूलक आख्यानधर्मिता नहीं मानती। और, इस उसूल का पालन इरिगरे न केवल अपने पाठ की रचना के लिए करती हैं, बल्कि दूसरे की व्याख्या करने के लिए भी यही युक्ति अपनाती हैं।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जूलिया क्रिस्टेवा, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोदरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, पुरुषत्व, प्रजनन प्रौद्योगिकी, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, महादेवी वर्मा, मनोविश्लेषण और नारीवाद, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवाद परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. ल्यूस इरिगरे (1974), *स्पेकुलम ऑफ़ द अदर वुमॅन*, कार्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका, न्यूयॉर्क.
2. ल्यूस इरिगरे (1977), *सेक्स विच इन नॉट वन*, कार्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका, न्यूयॉर्क.
3. मार्गरेट व्हाइटफ़ोर्ड (1991), *ल्यूस इरिगरे : फ़िलॉसफ़ी इन द फ़ेमिनिन*, रॉटलेज, लंदन.
4. सूजन सेलर्स (1991), *लेंगेवेंज ऐंड सेक्शुअल डिफ़रेंस : फ़ेमिनिस्ट राइटिंग इन फ़्रांस*, मैकमिलन, लंदन.

— अनामिका

ल्यूसियाँ फ़ेब्र

(Lucien Febvre)

ल्यूसियाँ फ़ेब्र (1878-1956) इतिहास-लेखन और दर्शन की एक बेहद प्रभावशाली धारा अनाल के संस्थापक और सूत्रधार थे। उन्होंने न केवल इतिहास-लेखन की प्रक्रिया को तात्त्विक ढंग से समृद्ध किया बल्कि एक अनुशासन के तौर पर उसकी रूढ़िवादी प्रस्थापनाओं से ज़िह्न करते हुए उसके सरोकारों का भी विस्तार किया। फ़ेब्र की बौद्धिक बनावट में उनके भाषाविद् पिता, दार्शनिक हेनरी बर्गसाँ, भूगोलवेत्ता ब्लांचे, कला-इतिहासकार एमिली मेले, साहित्यालोचक हेनरी ब्रीमोन तथा भाषाशास्त्री एंतोइन मेली का अहम योगदान था। फ़ेब्र ने अपने यौवन काल में इन विद्वानों की गोष्ठियों में शिरकत की और बाद में जूले मिशले, जैकब बुर्खाई तथा ज्याँ जॉरे जैसे इतिहासकारों और राजनीतिक विचारकों का गहन अध्ययन किया। फ़ेब्र के लेखन की अंतरविषयकता को एक तरह से इन बहुरंगी और बहुलतावादी प्रभावों का तार्किक विकास माना जा सकता है। चूँकि फ़ेब्र का दृष्टिकोण विभिन्न विचारों और चिंतन प्रणालियों से निर्मित हुआ था इसलिए वे इतिहास लेखन के क्षेत्र में पूर्व-प्रचलित मान्यताओं और प्रस्थापनाओं के दबदबे के खिलाफ़ संघर्ष कर पाये। फ़ेब्र ने जिस दौर में अपनी बौद्धिक यात्रा की शुरुआत की उस समय इतिहास-लेखन पर जर्मन विचारधारा का वर्चस्व था। इसके तहत वैज्ञानिकता के नाम पर इतिहास के अध्ययन में राजनीतिक और सैन्य घटनाओं को विशेष महत्त्व दिया जाता था। फ़ेब्र इस धारणा के पूरी तरह खिलाफ़ थे। उन्हें इतिहास का भूगोल, मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थव्यवस्था तथा भाषाशास्त्र से मिलता-जुलता ढाँचा ज़्यादा सही लगता था।

इसलिए यह अकारण नहीं है कि जब फ़ेब्र ने सोलहवीं सदी के स्पेनी शासक फ़िलिप द्वितीय के एक फ़्रांसीसी प्रांत के बारे में शोध-प्रबंध लिखा तो उन्होंने उक्त क्षेत्र की सामाजिक-भौगोलिक विशेषताओं के विस्तार में जाते हुए यह भी लक्षित किया कि उस दौर में पूँजीपति वर्ग किस तरह लगातार समृद्ध होता जा रहा था और कुलीन वर्ग कर्ज में डूबता जा रहा था। फ़ेब्र के प्रबंध-ढाँचे में कुलीन और बूर्जवाजी का यह आर्थिक, राजनीतिक और भावनात्मक द्वंद्व तथ्यों की सपाटबयानी से ज़्यादा अहमियत रखता था।

फ़ेब्र ने अपने जीवन में दोनों विश्व-युद्धों की विभीषिका देखी। पहले विश्व-युद्ध में तो उन्होंने बाक्रायदा लड़ाई के मोर्चे पर काम भी किया। चौतरफ़ा पसरे ध्वंस के इस माहौल में फ़ेब्र के लिए इतिहास महज तथ्यों का संकलन



ल्यूसियाँ फ्रेब्र (1878-1956)

और राजनीतिक घटनाओं का ब्योरा नहीं हो सकता था। लिहाजा उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि देश, सभ्यता, शांति और स्वतंत्रता के तक्राजे पूरा करने के लिए इतिहासकार को तथ्यों का अंधाधुंध इस्तेमाल करने; राष्ट्रवादी, वैचारिक और राजनीतिक पूर्वाग्रहों के अलावा घटनाओं को फ़र्जी सिद्धांतों का पर्याय बनाने की प्रवृत्ति से भी बचना चाहिए।

फ्रेब्र के इतिहास चिंतन में भूगोल एक खास जगह रखता है। अपनी पुस्तक *अ जियोग्राफिकल इंट्रोडक्शन टू हिस्ट्री* में फ्रेब्र तत्कालीन चिंतक फ्रेड्रिख रैट्जेल के इस प्रतिपादन का खण्डन करते हैं कि मनुष्य का भाव जगत, बदलती आकांक्षाएँ और उसकी नियति मूलतः भौतिक परिस्थितियों से तय होती है। इसके विपरीत फ्रेब्र आग्रह करते हैं कि भौतिक परिस्थितियों के प्रति मनुष्य अलग-अलग ढंग से अनुक्रिया करता है। मसलन किसी समुदाय के लिए पहाड़ बाधा का प्रतीक हो सकता है तो दूसरे समुदाय के लिए वह प्रदत्त सीमाओं का अतिक्रमण करने की प्रेरणा भी बन सकता है। इस संबंध में फ्रेब्र यह विलक्षण अंतर्दृष्टि उपलब्ध कराते हैं कि भौतिक परिस्थितियाँ मनुष्य पर सीधे-सीधे नहीं बल्कि सामाजिक संरचनाओं तथा विचारों के जरिये प्रभाव डालती हैं। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए फ्रेब्र फिर एक उदाहरण पेश करते हैं कि एक समूह को नदी अड़चन प्रतीत हो सकती है कि जबकि किसी दूसरे समूह के लिए वही नदी व्यापार

का मार्ग साबित हो सकती है। इस तरह फ्रेब्र के अनुसार किसी व्यक्ति के दुनियावी नज़रिये के पीछे उसके समाज की मान्यताएँ सक्रिय रहती हैं।

इतिहास और भूगोल के अंतःसंबंधों की यह पड़ताल फ्रेब्र के राईन नदी से संबंधित अध्ययन में भी जारी रहती है। अल्बर्ट डेमनजिऑन के साथ किये गये इस संयुक्त अध्ययन में फ्रेब्र कहते हैं कि राईन को लेकर लोगों की जो धारणाएँ बनी हैं वे प्राकृतिक न होकर मनुष्य के अनुभवों पर आधारित हैं। वे तर्कपूर्वक कहते हैं कि राईन नदी को किसी राजकीय सत्ता ने क्रायम नहीं किया था। लेकिन उसे राजनीतिक विवादों, राष्ट्रीय गौरव या घृणा का विषय बनाया जा सकता है। इसलिए उनका मानना था कि राईन के मानसिक सीमांतों पर चर्चा करके राष्ट्रीय मिथकों को सही परिप्रेक्ष्य में रखा जा सकता है।

स्ट्रांसबर्ग विश्वविद्यालय में फ्रेब्र की मुलाकात मध्यकालीन इतिहास के विशेषज्ञ मार्क ब्लॉक से हुई। यह विचारों और बौद्धिक सहयोग की शुरुआत करने वाली एक ऐसी मुलाकात थी जो ब्लॉक की असमय मृत्यु तक जारी रही। यहीं रहकर फ्रेब्र और ब्लॉक ने 1929 में आधुनिक इतिहास लेखन की सबसे विचारोत्तेजक धारा और उसके मुखपत्र *अनाल* की स्थापना की। *अनाल* के जरिये फ्रेब्र मानविकी के अनुशासनों को एक मंच पर लाने के अलावा इतिहास को प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक काल में बाँटने के चलन को प्रश्नांकित करना चाहते थे। उनकी दृष्टि में समाज को आदिम या सभ्य की श्रेणियों में बाँटना एक अतार्किक समझ थी। उन्होंने *अनाल* में तथ्यों और विशेषज्ञता के महिमामंडन के खिलाफ अनेकानेक समीक्षाएँ और लेख लिखे।

इतिहास लेखन में फ्रेब्र का एक अन्यतम योगदान रिनेसाँ और पुनर्जागरण की नयी व्याख्या है। उन्होंने इन विषयों पर सिलसिलेवार लिखते हुए बताया कि रिनेसाँ को एक नयी परिघटना साबित करने के उत्साह में इतिहासकारों ने इस बात पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया कि रिनेसाँ का एक अनिवार्य संदर्भ मध्यकाल में खुलता है। फ्रेब्र ने *अनाल* में प्रकाशित कई लेखों में यह प्रतिपादित किया कि पूँजीपति वर्ग (बूर्जवाजी) का उदय दोनों काल में समांतर ढंग से चलने वाली घटना थी। उन्होंने पुनर्जागरण आंदोलन की उस प्रचलित व्याख्या को भी चुनौती दी जिसके तहत उसे कैथोलिक चर्च की ज़्यादातियों के खिलाफ विद्रोह मानकर शेष प्रश्न स्थगित कर दिये गये थे। फ्रेब्र के मुताबिक धर्म के इतिहास को चर्च की किन्हीं खास संस्थाओं तक सीमित न होकर जनता के धार्मिक विचारों, भावनाओं और प्रवृत्तियों का भी जायज़ा लेना चाहिए। फ्रेब्र का कहना था कि पुनर्जागरण

की परिघटना इसलिए सम्भव हुई क्योंकि नये उभर रहे बूर्जवाजी को एक ऐसे स्पष्ट, मानवीय और बंधुत्व की भावना से भरे चर्च की तलाश थी जो बाइबिल के अध्ययन पर लगी वर्गीय बंदिशों का प्रतिकार करके और आस्तिक और ईश्वर के बीच सीधे संवाद को प्रश्रय दे सके।

बूर्जवाजी का उत्थान फ्रेब्र के लिए एक ऐसा विषय है जिसकी ओर वे बार-बार लौटते हैं। मार्टिन लूथर के जीवन पर एकाग्र उनकी पुस्तक को कई विद्वान बूर्जवाजी के उदय का भाष्य भी मानते हैं। फ्रेब्र कहते हैं कि लूथर के विचारों के प्रति सबसे सकारात्मक रवैया बूर्जवाजी का ही था। लेकिन साथ ही लूथर के विचारों को बूर्जवाजी के विचार मानने की गलती नहीं की जानी चाहिए क्योंकि डच सुधारक इरैज्मज और किसानों की निंदा करने के मामले में बूर्जवाजी के एक हिस्से ने लूथर के विचारों का सख्त विरोध भी किया था।

धार्मिकता के अध्ययन का यह क्रम फ्रेब्र की एक अन्य महत्वपूर्ण व विवादास्पद मानी जाने वाली पुस्तक *द प्रॉब्लम ऑफ अनबिलीफ इन द सिक्सटीथ सेंचुरी* में एक नयी ऊँचाई हासिल करता है जहाँ वे फ्रैंको रैबेले के ग्रंथ *गारगांतुआ ऐंड पैताग्रुएल* से संबंधित विवादों के जरिये यह दर्शाते हैं कि रैबेले का मक्रसद ईसाइयत की निंदा करना नहीं था। फ्रेब्र रैबेले के खिल्लाफ लगाये गये नास्तिकता के आरोपों की पडताल करते हुए बताते हैं कि सोलहवीं सदी के माहौल में किसी पर नास्तिक होने का आरोप लगाना एक आमफ्रहम सी गाली थी जिसे आस्तिकों के बीच हंगामा खड़ा करने के लिए कभी भी इस्तेमाल कर लिया जाता था। इस प्रवृत्ति का सामान्यीकरण करते हुए फ्रेब्र इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अतीत में प्रचलित शब्दों व धारणाओं को हू ब हू स्वीकार नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे शब्दों के हमेशा दो अर्थ होते हैं। उनका एक अर्थ एब्सोल्यूट होता है तो दूसरा आपेक्षिक। इसलिए नास्तिकता का सटीक अर्थ ईश्वर का नकार नहीं है। सोलहवीं सदी में नास्तिकता का आरोप किसी निंदनीय या हंगामाखेज घटना का बयान करने के लिए किया जाता था। इस संबंध में फ्रेब्र यह भी लक्षित करते हैं कि पीढ़ियों के अंतराल में चीजों को देखने-परखने के दृष्टिकोण में अंतर आ जाता है इसलिए अतीत के उद्धरणों का अभिप्राय स्थिर करने में एहतियात बरती जानी चाहिए। शब्दों और धारणाओं के इस अर्थ-दोष के कारण फ्रेब्र यह प्रस्तावित करते हैं कि रैबेले के बारे में यह पक्के तौर पर नहीं कहा जा सकता कि वे नास्तिक थे या नहीं।

रैबेले के आकलन में फ्रेब्र उस दौर की बृहत्तर सामाजिक संरचना का संदर्भ इस्तेमाल करते हुए इस बात पर जोर देते हैं कि डच सुधारक इरैस्मस की तरह रैबेले भी मध्यकालीन चर्च के चाल-चलन और मान्यताओं के कुछ खास पहलुओं की मुखालिफत करते थे लेकिन उन्हें उम्मीद थी कि चर्च की इन कमियों को तर्क और सहिष्णुता के सहारे

दुरुस्त किया जा सकता है।

सोलहवीं सदी में धर्म की सामाजिक भूमिका का विहंगम दृश्य खींचते हुए फ्रेब्र इस स्थूल निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उस जमाने में विज्ञान और दर्शनशास्त्र आदि भी धर्म की इस सर्वोच्चता के सामने खुद को निरुपाय पाते थे। स्थिति यह थी कि दार्शनिक और वैज्ञानिक चिंतन के पैरोकार भी मूर्त-अमूर्त, परम-आपेक्षिक के बारे में विचार करने से गुरेज करते थे, और इस द्वैध से ग्रस्त रहते थे कि किसी घटना के कारणों में जाने की हिम्मत की जाए या उससे बचकर सामाजिक निरंतरता की बात की जाए। फ्रेब्र इन सूत्रों को एक साथ जोड़ते हुए यह जोखिम भरी दलील पेश करते हैं कि अवधारणाओं के अभाव और दिक्काल की अटकल भरी समझदारी के कारण सोलहवीं सदी का मानसिक क्षितिज आधुनिक काल के मुकाबले एक अलग ही लोक बन जाता है। फ्रेब्र की यह किताब बीसवीं सदी के इतिहास लेखन की महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है। परंतु कुछ इतिहासकारों की राय में फ्रेब्र अपने विश्लेषण में कई जगह असंतुलित हो गये हैं। उनके अनुसार फ्रेब्र सोलहवीं सदी में धर्म को एक सर्वसत्तावादी उपस्थिति की तरह दर्शाते हैं और उस दौर में प्रचलित समय, स्पेस तथा सौंदर्य की अवधारणाओं को अनगढ़ और अविकसित करार देते हैं। जबकि कई विद्वानों ने ऐसे तथ्यों को सामने रखा है जिनसे संकेत मिलता है कि स्पेन और इटली में कई अल्पज्ञात चिंतक बाक्रायदा संदेहवादी थे लिहाजा सोलहवीं सदी में विचार और आस्था का दायरा फ्रेब्र के विश्लेषण से कहीं ज्यादा बहुलतावादी था।

दूसरे विश्व-युद्ध के बाद फ्रेब्र के लेखन में ठहराव आने लगा। एक तरफ ब्लॉक की मृत्यु के कारण उनकी कई संयुक्त परियोजनाएँ अधूरी रह गयी तो दूसरी ओर उनकी प्रशासनिक और सम्पादकीय ज़िम्मेदारियाँ बढ़ गयी। परंतु इस दौर में भले ही उनके नाम से कोई पुस्तक प्रकाशित न हुई हो लेकिन इस बीच मानविकी, समाजविज्ञानों तथा कला संबंधी किताबों पर प्रकाशित होने वाले उनके समीक्षात्मक निबंधों की संख्या ही इतनी विशाल है कि किसी भी पायेदार विद्वान के लिए ईर्ष्या और अनुकरण का कारण बन सकती है।

देखें : अनाल स्कूल, अर्नोल्ड जोसेफ टॉयनबी, ओसवाल्ड स्पेंगलर, फ्रैंक ब्राँदेल, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क ब्लॉक, इतिहास और आख्यान।

संदर्भ

1. पीटर बर्क (1990), *द फ्रेंच हिस्टोरिकल रेवोल्यूशन : द अनाल स्कूल, 1929-1989*, पॉलिटी, कैंब्रिज.
2. एस. क्लार्क (1990), *द अनाल स्कूल : क्रिटिकल एसेम्ब्लेंस*, चार खंड, रॉटलेज, लंदन.
3. सी. फिंक (1989), *मार्क ब्लॉक : अ लाइफ इन हिस्ट्री*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, केम्ब्रिज.

4. एच.एस. ह्यूजेस (1969), *द ऑक्सफ़ोर्ड पाथ : फ्रेंच सोशल थॉट इन द ईयर्स ऑफ़ डेस्पेरेशन 1930-1960*, न्यूयॉर्क, हारपर एंड रो.

— नरेश गोस्वामी

लेनिनवाद

(Leninism)

लेनिनवाद एक उत्तर-लेनिन वैचारिक परिघटना है। लेनिन का देहांत 1924 में हुआ। अपने जीवन में उन्होंने खुद न तो लेनिनवाद शब्द का प्रयोग किया, और न ही उसके प्रयोग को प्रोत्साहित किया। वे अपने विचारों को मार्क्सवादी, समाजवादी और कम्युनिस्ट श्रेणियों में रख कर व्यक्त करते थे। लेनिन के इस रवैये के विपरीत उनके जीवन के अंतिम दौर में यानी 1920 से 1924 के बीच सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के शीर्ष कम्युनिस्ट नेताओं और सिद्धांतकारों ने लेनिन के प्रमुख सिद्धांतों, रणनीतियों और कार्यनीतियों के इर्द-गिर्द विभिन्न राजनीतिक और रणनीतिक परिप्रेक्ष्य विकसित किये जिनके आधार पर आगे चल कर लेनिनवाद का विन्यास तैयार हुआ। इन नेताओं में निकोलाई बुखारिन, लियोन ट्रॉट्स्की, जोसेफ़ स्तालिन, ग्रेगरी जिनोवीव और लेव कामेनेव प्रमुख थे। उत्तर-लेनिन अवधि में हुए सत्ता-संघर्ष में स्तालिन की जीत हुई जिसके परिणामस्वरूप बाक्री नेताओं को जान से हाथ धोना पड़ा। नतीजतन आज लेनिनवाद का जो रूप हमारे सामने है, उस पर प्रमुख तौर पर स्तालिन की व्याख्याओं की छाप है। स्तालिन ने 1934 में दो पुस्तकें लिखीं : *फ़ाउंडेशंस ऑफ़ लेनिनिज़म* और *प्रॉब्लम्स ऑफ़ लेनिनिज़म* जो लेनिनवाद की अधिकारिक समझ का प्रतिनिधित्व करती हैं। अगर स्तालिन द्वारा दी गयी परिभाषा मानें तो लेनिनवाद साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांति के युग का मार्क्सवाद होने के साथ-साथ सर्वहारा की तानाशाही की सैद्धांतिकी और कार्यनीति है। ज़ाहिर है कि स्तालिन इस परिभाषा के ज़रिये लेनिनवाद को एक सार्वभौम थियरी की तरह पेश करना चाहते थे। उन्हें अपने इस लक्ष्य में जो सफलता मिली, उसके पीछे लेनिन द्वारा सोवियत क्रांति के बाद 1919 में स्थापित कोमिंटेर्न (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल) की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।

स्तालिन की कामयाबी का अंदाज़ा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि दुनिया के अधिकतर मार्क्सवादी कार्यकर्ता और नेता मार्क्सवाद को लेनिनवाद के बिना अपूर्ण समझते हैं। दरअसल, लेनिनवाद क्लासिकल मार्क्सवाद में कुछ नयी बातें

जोड़ता है। पहली बात तो यह है कि वह केवल क्रांतिकारी सर्वहारा पर निर्भर रहने के बजाय क्रांतिकारी मेहनतकशों यानी मज़दूरों और किसानों के गठजोड़ की मुख्य क्रांतिकारी शक्ति के रूप में शिनाख्त करता है। अपने इस योगदान के कारण लेनिनवाद मार्क्सवाद को विकसित औद्योगिक पूँजीवाद की सीमाओं से निकाल कर अल्पविकसित और अर्ध-औपनिवेशिक देशों के राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों के लिए उपयोगी विचारधारा बना देता है। लेनिनवाद ऐसे सभी देशों के कम्युनिस्टों और अन्य रैडिकल तत्त्वों के लिए क्रांति करने की व्यावहारिक विधि का प्रावधान बन कर उभरा है। लेनिनवाद के इस आयाम के महत्त्व का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि मज़दूरों और किसानों के क्रांतिकारी मोर्चे की अवधारणा चीन, वियतनाम, कोरिया और लातीनी अमेरिका में कम्युनिस्ट क्रांति को अग्रगति देने में कामयाब रही है। जिन देशों, जैसे भारत, में कम्युनिस्ट क्रांतियाँ नहीं भी हो पायीं, वहाँ के कम्युनिस्ट भी लेनिनवाद की इसी केंद्रीय थीसिस पर अमल करते हैं।

लेनिनवाद क्रांतिकारी राजनीतिक कार्रवाई को सर्वोच्च प्राथमिकता देता है, और इस कार्रवाई की बागडोर उसने पेशेवर क्रांतिकारियों द्वारा संचालित और लोकतांत्रिक केंद्रवाद पर आधारित अनुशासित कम्युनिस्ट पार्टी को थमायी है। लेनिनवाद की मान्यता है कि मज़दूर वर्ग केवल अपने आर्थिक संघर्षों और अन्य राजनीतिक गतिविधियों के चलते स्वतःस्फूर्त ढंग से क्रांतिकारी नहीं बन सकता। उसके लिए क्रांतिकारी चेतना की वाहक यह पार्टी ही बनेगी।

लेनिनवाद का यह दूसरा पहलू भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। कुछ विद्वान तो यह भी मानते हैं कि पार्टी-संगठन का उसूल ही लेनिनवाद का मर्म है और इसी में एक पार्टी की हूकूमत वाले राज्य की संकल्पना निहित है। बीसवीं सदी के एकदम शुरुआत में रूसी सामाजिक जनवादी पार्टी के भीतर संघर्ष करते हुए लेनिन ने रूसी परिस्थिति को जर्मन परिस्थिति से अलग दिखाते हुए एक जन-आधारित पार्टी के बजाय गोपनीय राजनीति में माहिर एक छोटी और अनुशासित कार्यकर्ता आधारित पार्टी बनाने की तजवीज़ की थी। पेशेवर सर्वहारा क्रांतिकारियों की यह पार्टी उस क्रांतिकारी-लोकतांत्रिक रुझान की वाहक होनी थी जिसे लेनिन की क्रांति-पूर्व रचनाओं, खास कर *स्टेट ऐंड रेवोल्यूशन* में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, हालाँकि इस रचना में पार्टी के सवाल पर कोई चर्चा नहीं है। लेनिन का पार्टी संबंधी चिंतन 1918 से 1922 के बीच फिर से सामने आया जब नवजात सोवियत राज्य आर्थिक घेरेबंदी, विदेशी आक्रमण और गृह युद्ध से जूझ रहा था। इस दौरान लेनिन की पार्टी का जो स्वरूप उभरा, उसके कई पहलू पहले वाले क्रांतिकारी-लोकतांत्रिक रुझान के अनुकूल नहीं थे।

पार्टी-संगठन संबंधी लेनिनवाद के निर्देशों को संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है : मजदूर वर्ग की पार्टी को एक क्रांतिकारी मार्क्सवादी कार्यक्रम पर आधारित होना चाहिए जिस पर अमल करते समय ध्यान रखना होगा कि समाजवाद के लिए संघर्ष में प्रगति हो रही है या नहीं; पार्टी की सदस्यता क्रांतिकारी कार्यक्रम से पूर्णतः सहमत कार्यकर्ताओं को ही दी जाएगी और वे ही पार्टी पर समग्र रूप से नियंत्रण रखेंगे; क्रांतिकारी कार्यक्रम का विकास करते हुए उसका कार्यावयन करने की सामूहिक जिम्मेदारी कार्यकर्ताओं की ही होगी; अगर हुकूमत के दमन के कारण पार्टी को भूमिगत या अर्ध-भूमिगत स्थितियों में काम नहीं करना पड़ रहा है, तो पार्टी खुले रूप से काम करते हुए लोकतांत्रिक गतिविधियाँ करेगी और ऊपर से नीचे चुनाव के जरिये उसके पदाधिकारी तय होंगे; प्रत्येक पार्टी इकाई लोकतांत्रिक रूप से प्रतिनिधियों को चुनेगी जो पार्टी की सर्वोच्च निर्णयकारी संस्था कांग्रेस में भाग लेंगे जिसका आयोजन हर दो साल के अंतराल पर होगा; कांग्रेस के आयोजन से पहले सदस्यों के लिए अहम समझे जाने वाले सभी सवालों पर पूरी पार्टी में खुल कर निस्संकोच विचार-विमर्श करना होगा और इसके लिए चर्चा-पत्र तैयार करने होंगे और विशेष बैठकें करनी होंगी; दो कांग्रेसों के बीच की अवधि में क्रांतिकारी कार्यक्रम और कांग्रेस के निर्णयों के आधार पर पार्टी का संचालन करने के लिए कांग्रेस के प्रति जवाबदेह एक केंद्रीय समिति गठित करनी होगी; केंद्रीय समिति पार्टी के रोजमर्रा संचालन के लिए विभिन्न स्तरों पर कमेटियाँ गठित करेगी जिनका काम सभी स्थानीय इकाइयों और सदस्यों को संगठन के अनुभवों, गतिविधियों, और फ़ैसलों से वाकिफ़ कराते रहना होगा; क्रांतिकारी कार्यक्रम पर व्यापक एकता होते हुए भी पार्टी के भीतर कार्यनीतिक और व्यावहारिक प्रश्नों पर मतभेद हो सकते हैं जिनके भीतर पार्टी के फ़ोरमों पर खुल कर बहस चलानी होगी ताकि पार्टी-कार्यक्रम का विकास हो सके और उसके संबंध में राजनीतिक स्पष्टता हासिल हो सके; इन मतभेदों को व्यक्त करने के लिए समय, स्थान और हालात का ध्यान रखना होगा; सभी सदस्यों को पूरी पार्टी के सामने अपने विचारों को रखने और उन पर बहस का आह्वान करने का मौक़ा होगा; उन्हें अपने विचारों के इर्द-गिर्द समूह बनाने या मंच बनाने का भी अधिकार होगा; सभी सवालों पर अंतिम फ़ैसला बहुमत तय करने वाले मतदान के जरिये होगा; एक बार फ़ैसला हो जाने पर अल्पमत को उस पर निष्ठापूर्वक अमल करना होगा; इस तरह लागू की गयी किसी भी नीति की सफलता, विफलता या आंशिक सफलता से पूरी पार्टी सबक सीखने के लिए तैयार रहेगी; स्थानीय इकाइयाँ पार्टी-कार्यक्रम के तहत कार्यरत रहेंगी और सारे फ़ैसलों का पालन करेंगी, और इसी ढाँचे के तहत उन्हें स्थानीय नेतृत्व के

लोकतांत्रिक निर्देशों के तहत काम करना होगा।

लेनिनवाद पार्टी के इस ढाँचे को लोकतांत्रिक केंद्रवाद की संज्ञा देता है और दुनिया की अधिकतर कम्युनिस्ट पार्टियाँ इसी का पालन करती हैं। लेकिन पहली नज़र में साफ़-सुथरा और तर्कसंगत लगने वाला यह ढाँचा कम्युनिस्ट आंदोलन के भीतर और बाहर काफ़ी विवादित रहा है। लेनिन की समकालीन सिद्धांतकार रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग ने भी इसकी आलोचना की थी, हालाँकि वे बोल्शेविकों की आम कार्यदिशा से सहमत थीं। रोज़ा लेनिन के इस सूत्रीकरण से सहमत नहीं थीं कि मजदूर वर्ग में स्वतःस्फूर्त क्रांतिकारी चेतना विकसित करने की क्षमता नहीं होती। इस पार्टी-ढाँचे के आलोचकों का आरोप है कि इसके भीतर लोकतंत्र पर हमेशा केंद्रवाद हावी रहता है इसलिए यह बुनियादी तौर पर अलोकतांत्रिक होता है। ऐसे संगठन में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के नाम पर एक पार्टी की तानाशाही स्थापित करने का ज़बरदस्त रुज़ान मौजूद रहता है। अंतिम विश्लेषण में ऐसी पार्टी मजदूर वर्ग के हवाले से जो हुकूमत करती है उसमें वह लोकतांत्रिक केंद्रवाद को पार्टी-संगठन की सीमाओं से परे जा कर सामाजिक संगठन के उसूल में बदल देती है।

लेनिन रूस में क्रांति की सफलता और उसके टिके रहने को विश्व-क्रांति की गतिशीलता के साथ जोड़ कर देखते थे। इसलिए उन्होंने दुनिया भर में कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थापना और उनकी राजनीति के मार्गदर्शन के लिए कोमिंटर्न का गठन किया था। कोमिंटर्न ने ऐसा किया भी। 1921 में स्थापित चीनी कम्युनिस्ट पार्टी उसकी मदद के बिना गठित नहीं की जा सकती थी। लेकिन लेनिन के बाद कोमिंटर्न की भूमिका बदलती चली गयी। स्तालिन की देख-रेख में विश्व-क्रांति के हित सोवियत संघ की भू-राजनीतिक रणनीतियों के मातहत होते चले गये। दुनिया के दूसरे देशों में क्रांति की सम्भावनाओं पर स्तालिन द्वारा परिभाषित लेनिनवाद का मॉडल थोपा जाने लगा। चीन की कम्युनिस्ट क्रांति तभी सफलता के रास्ते पर चल पायी, जब उसने कोमिंटर्न के जरिये भेजे गये स्तालिन के आदेशों को मानने से इनकार कर दिया। माओ त्से-तुंग ने लेनिनवाद को मार्गदर्शक के रूप में स्वीकार किया, पर वे लेनिनवाद की स्तालिनीय व्याख्या से दूर होते चले गये। एक स्थिति तो यह आयी थी कि माओ ने कोमिंटर्न के प्रतिनिधियों से मिलने तक से इनकार कर दिया था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि 1949 में जिस समय माओ चीन लोक गणराज्य की स्थापना का ऐलान कर रहे थे, उस समय भी सोवियत संघ ने कुओमिंगतांग और उसके नेता कम्युनिस्ट विरोधी नेता च्यांग काई शेक के साथ संधि कर रखी थी। माओ ने बाद में स्तालिन की आलोचना करते हुए कहा भी कि वे क्रांति को 'फ़र्जी' मानते थे।

स्तालिनीय लेनिनवाद की आलोचना के कुछ अन्य परिप्रेक्ष्य भी हैं जिनमें युरोकम्युनिज़म का रुख उल्लेखनीय है। मार्क्सवाद का यह संस्करण मानता है कि लेनिनवाद मुख्यतः रूसी परिस्थितियों की देन होने के कारण युरोपीय सर्वहारा के संघर्ष के लिए प्रासंगिक नहीं है। इसके पैरोकार मानते हैं कि पूँजीवादी राज्य के हिंसक तख्तापलट की राजनीति करने की बजाय युरोपीय सर्वहारा अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पूँजीवादी राज्य-तंत्र में भागीदारी करके लाभ उठा सकता है।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा का मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रैंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. एम. लीबमैन (1980), *लेनिनिज़म अंडर लेनिन*, मर्लिन प्रेस, लंदन, 1980
2. जे.वी. स्तालिन (1972), 'फ़ाउंडेशन ऑफ़ लेनिनिज़म' और 'प्रॉब्लम्स ऑफ़ लेनिनिज़म', बी. फ्रैंकलिन (सम्पा.), *द इसेंशियल स्तालिन, 1905-1952*, एंकर बुक्स, न्यूयॉर्क.
3. पी. ल'ब्लांक (1903), *लेनिन ऐंड द रेवोल्यूशनरी पार्टी*, ह्यूमेनिटी बुक्स, एमहर्स्ट, एनवाई.

— अभय कुमार दुबे

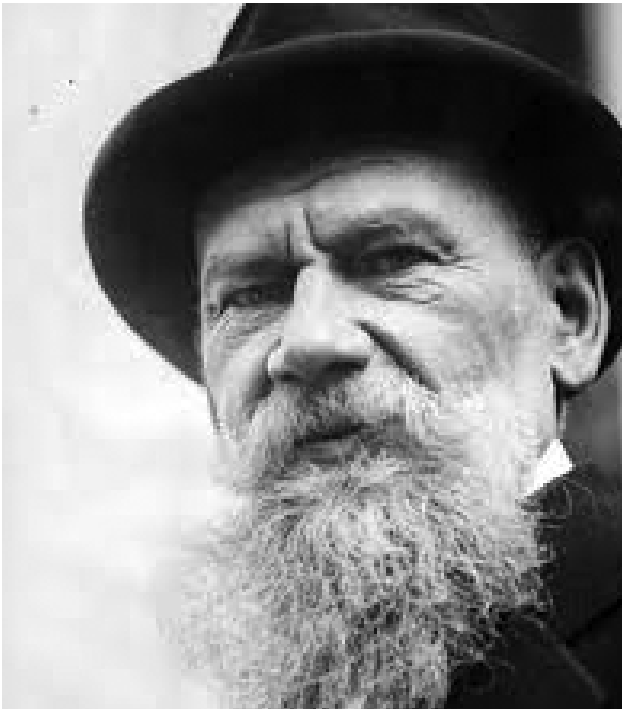
लेव निकोलाइविच तॉल्स्तॉय

(Lev Nikolayevich Tolstoy)

लेव निकोलाइविच तॉल्स्तॉय (1828-1910) दुनिया के महान् साहित्यकारों में से एक होने के साथ-साथ उन्नीसवीं सदी के प्रमुख चिंतकों में से भी एक थे। इतिहासकार, शिक्षाविद्, नैतिकतावादी, कला-सिद्धांतकार, समाज-सुधारक और एक नये धर्म के संस्थापक के रूप में अनूठी उपलब्धियाँ करने वाले लेव तॉल्स्तॉय के चिंतन ने बीसवीं सदी की राजनीति पर गहरा असर डाला। भारतीय उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन तक उनका प्रभाव गाँधी के जरिये पहुँचा। तॉल्स्तॉय द्वारा प्रवर्तित बुराई के अप्रतिरोध के संदेश गाँधी ने व्यावहारिक राजनीति में उतारा। *युद्ध और शांति* एवं *अन्ना कैरिनीना* जैसे क्लासिक उपन्यासों के लेखक तॉल्स्तॉय सेना-प्रशिक्षण और युद्ध का विरोध करने वाले और राज्य की संस्था के विरोधी थे। लेकिन अन्य अराजकतावादियों की तरह उनकी आस्था क्रांतिकारी हिंसा में नहीं थी। उनका कहना था कि क्रांति सरकार से मुक्ति नहीं दिला सकती। क्रांतिकारी परिवर्तनों में पीड़ा सामान्य जन को ही होती है। नयी सरकार के आने से हिंसा कम नहीं होती, बल्कि बढ़ती है।

लेव तॉल्स्तॉय का जन्म 28 अगस्त (नये कैलेंडर के अनुसार नौ सितम्बर), 1828 को मास्को के दक्षिणी भाग स्थित तुला प्रोविंस के यास्याना पोल्याना नामक स्थान पर एक जमींदार घराने में हुआ। तॉल्स्तॉय के पिता नाटककार एलेक्सी तॉल्स्तॉय के रिश्तेदारों में से थे और माता कवि पुश्किन की दूर की रिश्तेदार थीं। यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक परम्परा उन्हें चुट्टी में मिली थी। वे बालक ही थे कि उनके माता-पिता का एक के बाद एक देहांत हो गया। उनका और उनके भाई-बहनों का जिम्मा उनकी चाची तात्याना अलेक्सेंद्रा ने सँभाला। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई।

तॉल्स्तॉय ने राजनयिक बनने के लिए कज़ान विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग में दाखिला लिया। 1845 में उन्हें क़ानून विभाग में दाखिला मिला। क़ानून का अध्ययन करते समय उनकी रुचि मृत्युदण्ड और तुलनात्मक विधिशास्त्र में हुई जिसकी अभिव्यक्ति आगे चलकर उनकी साहित्यिक रचनाओं में अनेक स्थानों पर हुई। इसी समय उन्हें अंग्रेज़ी उपन्यासकार लारेंस स्टेर्न और चार्ल्स डिक्केन्स की रचनाओं के अध्ययन का मौक़ा मिला। रूसो के विचारों से उनका परिचय भी इसी दौरान हुआ। 1847 में पुनः यास्याना पोल्याना लौट कर उन्होंने स्वाध्याय और अपनी ज़मींदारी व्यवस्थित करने और अपने मातहतों की बहबूदी में समय लगाया। 1851 में उन्होंने सेना की परीक्षा पास की और



लेव निकोलाइविच तॉल्स्तॉय (1828-1910)

काकेशस के पर्वतीय ऋबीलों से होने वाली दीर्घकालीन लड़ाई में भाग लिया।

1852 में *बचपन* के लेखन से उनकी साहित्यिक यात्रा शुरू हुई जिसका चरमोत्कर्ष 1869 में *युद्ध और शांति* के प्रकाशन के साथ हुआ। लगभग छह सौ चरित्रों वाला यह उपन्यास कई भाषाओं में अनूदित हुआ और तॉल्स्तॉय की ख्याति दुनिया भर में फैल गयी। *अन्ना केरेनिना* उपन्यास लिखते समय (1875-77) तॉल्स्तॉय एक तरह से आस्था के संकट से गुजर रहे थे। उन्होंने जीवन में मूल्यों की खोज और अस्तित्व के प्रयोजन के बारे में विचार करना शुरू कर दिया था। इसी का परिणाम आगे चलकर *माई कंफेशन* नामक कृति में निकला जिसमें रूसी ऑर्थोडॉक्स चर्च पर तीखा प्रहार किया गया। उन्होंने 1901 में खुद को चर्च से अलग कर लिया।

तॉल्स्तॉय का विचार था कि धरती पर जीवन का उद्देश्य अपनी निम्न पशु-प्रवृत्तियों की सेवा न हो कर अपने भीतर विद्यमान ऊँची और उदात्त प्रवृत्तियों की सेवा करना है। ऐसा करने की शक्ति सभी के पास होती है। यही शक्ति हमें बताती है कि अच्छा क्या है। हमारे तर्क व चेतना का स्रोत भी यही शक्ति है और इसी के अनुसार बिताने पर जीवन आनंदपूर्ण बनता है। तॉल्स्तॉय एक प्रचुर लेखक थे। उनका वांगमय नब्बे से ज्यादा खण्डों में संकलित है। आखिरी दौर में प्रकाशित अपनी रचना *व्हाट इज़ टु बी डन?* में उन्होंने स्पष्ट संदेश दिया है : 'तुम्हें क्या करना है यह इससे तय नहीं होता कि ज़ार, गवर्नर, पुलिस अफसर, ड्यूमा या कोई राजनीतिक दल तुमसे

क्या करवाना चाहता है। तुम्हें तो वह करना चाहिए जो एक व्यक्ति के रूप में करना तुम्हारे लिए सबसे ज्यादा स्वाभाविक है और जो तुमसे वह ताकत करवाना चाहती है जिसने तुम्हें इस दुनिया में भेजा है।' भाईचारा तॉल्स्तॉय का केंद्रीय आदर्श था। रूसी यूटोपियाई दार्शनिक एन. फ्योदोरोव के साथ-साथ वे अपने ऊपर रूसो का भी गहरा असर मानते थे।

तॉल्स्तॉय को ईसाई अराजकतावाद का सिद्धांतकार भी माना जाता है। 1893 में प्रकाशित उनकी कृति *द किंगडम ऑफ़ गॉड इज़ विदिन यू* में घोषणा की गयी है कि बुराई के मुकाबले अप्रतिरोध के सिद्धांत को सरकारों पर लागू करना चाहिए। सरकारें अनैतिक होने के साथ-साथ अमीरों और शक्तिशालियों के लिए बनी व टिकी हुई हैं। टैक्स वसूल कर सरकारें जेलों का निर्माण करती हैं और युद्ध में हिंसा का सहारा लेकर जनता को उसमें शामिल करना भी उनका काम है। इस पुस्तक के पहले भाग में बुराई के प्रति अप्रतिरोध के मत की विभिन्न आलोचनाओं का विवेचन करके उन लोगों के प्रति श्रद्धा अर्पित की गयी है जिन्होंने सार्वजनिक रूप से इसका प्रचार-प्रसार किया है। तॉल्स्तॉय का कहना था कि ईसाई चर्च ईसा की शिक्षाएँ विकृत करते हैं ताकि आम जनता पर उनका प्रभुत्व बना रहे और उनकी आमदनी भी बढ़ती रहे।

तॉल्स्तॉय ने *रिलीजन ऐंड मॉरलिटी* (1893), *द क्रिश्चियन टीचिंग्स* (1898), *रिप्लाय टू द साइडोनाइस इडिक्ट ऑफ़ एक्सक्युनिकेशन* (1901) और *व्हाट इज़ रिलीजन ऐंड वेअर इन लाइज़ इट्स एसेन्स* (1902) जैसी धार्मिक विचारों वाली रचनाएँ लिखीं। *रिलीजन ऐंड मॉरलिटी* में उन्होंने अनेक धर्मों के माध्यम से यह उत्तर प्राप्त करने का प्रयास किया कि धर्म क्या है? क्या नैतिकता इसके बिना हो सकती है? *रिप्लाय टू द साइडोनाइस इडिक्ट ऑफ़ एक्सक्युनिकेशन* उन्हें चर्च से निष्कासित करने का प्रभावशाली प्रत्युत्तर है। *व्हाट इज़ रिलीजन ऐंड वेअर इन लाइज़ इट्स एसेंस* उनके धर्म संबंधी विचारों की उपयोगी पुस्तक है। तॉल्स्तॉय ने ईसा की सीख, विशेष तौर पर 'सरमन ऑन द माउण्ट' को विशेष अहमियत देते हुए ईसाई रहस्यवाद, कर्मकांड और चमत्कार वगैरह को पूरी तरह से खारिज कर दिया।

दरअसल, तॉल्स्तॉय का धार्मिक दर्शन प्रमुख दार्शनिक-धार्मिक मतों के समान गुणों और मनुष्यता के नैतिक दर्शन की मौलिक विवेचना है। 1880 के दशक में तॉल्स्तॉय ने सभी प्रमुख धर्मों हिंदू, बौद्ध, ईसाई, यहूदी, इस्लाम, ताओ, बहाई आदि का विशद अध्ययन किया। जीवन के अंतिम वर्षों में तॉल्स्तॉय ने शांति पर बहुत लिखा। उन्होंने भविष्यवाणी की कि विज्ञान के आश्चर्यजनक विकास का उपयोग युद्ध के विनाशक यंत्रों को बनाने में अधिक होगा। उन्होंने युद्ध थोपने वाली सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक

ताक़तों का भी खुलासा किया। तॉल्स्तॉय ने आधुनिक प्रगति को भी प्रश्नांकित किया। अपने एक निबंध में वे साफ़ कहते हैं कि राष्ट्रभक्ति एक झूठा विचार है जो ईसा की सीख के खिलाफ़ जाता है। एड्रेस टू स्वीडिश पीस कांग्रेस (1909) तॉल्स्तॉय की युद्ध और उसका समर्थन करने वाली शक्तियों के विरोध की सर्वाधिक सशक्त अभिव्यक्ति है। उन्होंने इस समस्या को मनुष्य की नैतिक माँग और वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के बीच साफ़ अंतर्विरोध के रूप में देखा। इस लेख के अंत में उन्होंने लिखा कि कांग्रेस के हर सदस्य को अपनी-अपनी सरकारों पर जनता का नैतिक दबाव डालना होगा ताकि सरकार को यह समझाया जा सके कि युद्ध राष्ट्रभक्ति नहीं है और न ही किसी देश की सेवा है, अपितु यह हत्या के नग्न अपराधी व्यवसाय की सेवा है।

तॉल्स्तॉय के अनुसार मनुष्य शरीर मात्र नहीं है। अगर शरीर मात्र होता तो नैतिक विचारों की ज़रूरत नहीं होती। शारीरिक ज़रूरत ही सब कुछ का पैमाना होता। लेकिन मनुष्य शरीर से कुछ अलग है। तॉल्स्तॉय कहते हैं कि मनुष्य मूलतः आत्मा है। यानी मनुष्य शरीर और आत्मा में विभक्त है। मनुष्य को धारण करने वाली शक्ति आत्मा ही है। यह आत्मा सभी में वैयक्तिक मगर समान रूप से व्याप्त है। विवेक इसी आत्मा की आवाज़ है।

तॉल्स्तॉय थोरो के साहित्य से परिचित थे। उनके अनेक पत्रों व लेखों में थोरो का उल्लेख मिलता है। तॉल्स्तॉय ने गाँधी के साथ भी पत्र व्यवहार किया। गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका में चल रहे अपने अहिंसक आंदोलन के बारे में उन्हें पत्र लिखा था। तॉल्स्तॉय द्वारा महात्मा गाँधी को बाद में लिखा गया पत्र *अ लैटर टू अ हिंदू* बहुत प्रसिद्ध हुआ। 1889 में तॉल्स्तॉय का महत्त्वपूर्ण उपन्यास *रिज़रैक्शन* आया जिसकी पूरी आमदनी उन्होंने रूस के शांतिवादी ईसाई दुखोबार सम्प्रदाय को रूस छोड़ कर कनाडा में जाकर बसने के लिए दे दी। तॉल्स्तॉय के वैवाहिक जीवन का उत्तरार्द्ध दुखद रहा। 7 नवम्बर (नयी तिथि 20 नवम्बर), 1910 को निमोनिया से हृदयगति बंद हो जाने के कारण ऐस्तापोवो नामक रेल्वे स्टेशन (रयाजान प्रोविन्स) पर उनका देहांत हो गया।

देखें : अरविंद घोष, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, क्राजी नज़रुल इस्लाम, कुमार आशान, गजानन माधव मुक्तिबोध, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, प्रेमचंद, फ़क्रोर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेंदु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, राजा राममोहन राय, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, रुक्मिणी देवी अरंडेल, वल्लतोल, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, सुब्रह्मण्यम भारती, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. एच. गिफ़र्ड (1982), *तॉल्स्तॉय*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
2. ईसैया बर्लिन (1967), *द हेजहॉग ऐंड द फ़ॉक्स : ऐन एसे ऑन द तॉल्स्तॉयज़ व्यू ऑफ़ द हिस्ट्री*, वीडनःफ़्रील्ड ऐंड निकल्सन, लंदन.
3. एम.ई. जॉस (सम्पा.) (1978), *न्यू एसेज़ ऑन तॉल्स्तॉय*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
4. वी. श्वलोव्स्की (1978), *लियो तॉल्स्तॉय*, प्रोग्रेस पब्लिकेशंस, मास्को.

— शम्भू जोशी

लोकविद्या

(Lokavidya)

समाज में व्याप्त जो ज्ञान है उसे ही लोकविद्या कहते हैं। आदिवासियों, किसानों, कारीगरों, छोटे दुकानदारों और तरह-तरह के काम करने वाले करोड़ों लोगों का ज्ञान लोकविद्या है। लेकिन यह ऐसे लोगों का ज्ञान है जो शायद कभी किसी कॉलेज या विश्वविद्यालय में नहीं पढ़े। यह कोई बचा-खुचा पारम्परिक ज्ञान न हो कर समाज में स्थित ऐसा सक्रिय ज्ञान है जो लगातार लोगों के अनुभवों, प्रयोगों और उनकी तर्क-बुद्धि से नवीकृत होता रहता है। आधुनिक समाज ने ऐसे ज्ञान को ज्ञान मानने से ही इनकार कर दिया है। आधुनिक विज्ञान यानी साइंस के दृष्टिकोण से ऐसे ज्ञान को अवैज्ञानिक और अंधविश्वासों का पुलिंदा करार दिया गया है। बहुत हुआ तो ऐसे ज्ञान को हुनर के रूप में पहचाना गया है। लोकविद्या के अपने मूल्य, अपनी तर्क-पद्धति और दर्शन हो सकता है, यह आधुनिकता की समझ से बाहर है। ऐसा मान लिया गया कि समाज के निर्माण व पुनर्निर्माण में लोकविद्या की कोई प्रासंगिकता नहीं है। विश्वविद्यालय से निकले या उसके द्वारा प्रतिष्ठित ज्ञान को ही ज्ञान मानते हुए औद्योगिक युग में लोकविद्या का अस्तित्व सार्वजनिक दुनिया से विलुप्त-सा कर दिया गया है। इसी तिरस्कार और दमन के चलते लोकविद्या सार्वजनिक दुनिया से परे परिवार, जाति, गाँव व जंगलों में सिमटी हुई प्रतीत होती है। इससे ऐसा भ्रम हो सकता है कि लोकविद्या का स्वभाव इन्हीं बंधनों में रहने का है। लेकिन लोकविद्या कभी विलुप्त नहीं होती और न ही आधुनिकता के दबाव में हुई है। भारत के 60 से 80 प्रतिशत नागरिकों ने कभी विश्वविद्यालय की शिक्षा नहीं पायी। अपने प्रति उदासीन या आक्रामक इस औद्योगिक युग में ये लोग

अपनी विद्या के बल पर ही अपना जीवन चलाते रहे हैं। 'अनौपचारिक अर्थ-व्यवस्था' के रूप में आधुनिक अर्थशास्त्र कभी-कभी इनकी टोह लेने की कोशिश करता है।

सूचना क्रांति : पिछले बीस वर्षों में दुनिया में एक बड़ा बदलाव आया है जिसमें अर्थ व्यवस्था, संस्कृति, शिक्षा, वित्त आदि सभी आयामों में एक आमूल परिवर्तन दिखता है। इन सारे बदलावों के केंद्र में सूचना प्रौद्योगिकी की क्रांति है जिसके कारण इस युग को 'सूचना युग' का नाम भी दिया गया है। इसके कारण से ज्ञान की दुनिया में एक जबरदस्त मंथन हो रहा है। आज 'ज्ञान' शब्द हमारी भाषा में जगह-जगह पर लक्षित होता है। ज्ञान-समाज, ज्ञान-अर्थव्यवस्था, ज्ञान-मजदूर जैसे शब्द ख़बरों में रहते हैं। राष्ट्रीय सरकारें एवं अंतर्राष्ट्रीय संस्थान ज्ञान-आधारित समाज बनाने के लिए हमेशा ही नयी योजनाएँ बनाते रहते हैं। सोचने की बात यह है कि जब हम ज्ञान-आधारित समाज या ज्ञान-आधारित अर्थ-व्यवस्था की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त ज्ञान ही नहीं होता है। ज्ञान-आधारित समाज का अर्थ है सूचना प्रौद्योगिकी के आधार पर ऐसे समाज का निर्माण जो ज्ञान-प्रबंधन का आश्रित है। अगर ऐसा नहीं होता तो आई.टी. पार्क इत्यादि को नॉलेज पार्क क्यों कहा जाता। इससे संकेत मिलता है कि आज की दुनिया में ज्ञान की एक नयी परिभाषा और नयी कसौटियाँ बन रही हैं। इस नयी दृष्टि में किसी भी ज्ञान के लिए महत्वपूर्ण यह नहीं है कि उसे किस पद्धति से प्राप्त किया गया। महत्वपूर्ण ये है कि क्या इस ज्ञान को सूचना प्रौद्योगिकी द्वारा व्यवस्थित कर बौद्धिक संपत्ति के रूप में इसका दोहन किया जा सकता है ?

औद्योगिक क्रांति के समय से मनुष्य की वैचारिक और व्यावहारिक गतिविधियों के केंद्र में वस्तुओं का 'उत्पादन' तथा इस उत्पादन में लगा 'श्रम' रहा है। उत्पादन के साधन, मालिकाना, नियंत्रण, प्रबंधन आदि बहस के मुद्दे रहे हैं। श्रम का मूल्य तथा इसका शोषण और इसके खिलाफ लड़ाई समाजिक परिवर्तन के विचारों तथा आंदोलनों के केंद्र में रही है। लेकिन सूचना युग में 'ज्ञान' केंद्र में आ गया लगता है। इसके साथ ही ज्ञान-गतिविधियों का एक नया वर्चस्वशाली क्षेत्र अस्तित्व में आ गया है, जिसे हम इंटरनेट के नाम से जानते हैं। लोकविद्या का विमर्श हमारे सामने सूचना युग व इंटरनेट इत्यादि का एक दार्शनिक और राजनीतिक पाठ प्रस्तुत करता है। समकालीन दुनिया में शक्ति के स्रोतों की पहचान तथा समाज में बुनियादी परिवर्तन लाने के रास्तों को पड़ताल के रूप में लोकविद्या विचार पिछले दशक में उभरा है।

लोकविद्या और सामान्य जीवन : लोकविद्या दर्शन के मूल में यह स्थापना है कि मनुष्य एक ज्ञानवान प्राणी है। ज्ञान और विवेक उसके स्वाभाविक गुण हैं। मनुष्य का यह

स्वाभाविक गुण सामान्य जीवन में मुखर होता है। सामान्य जीवन ही लोकविद्या का घर है। दैनंदिन सामान्य जीवन की अवधारणा पर ही लोकविद्या की दार्शनिक समझ टिकी हुई है। सामान्य जीवन की कोई शर्त नहीं होती। सामान्य जीवन किसी खास ज्ञान-संरचना या नॉलेज सिस्टम से बँधा नहीं होता। न ही यह किसी खास धर्म या प्रौद्योगिकी पर टिका होता है। विज्ञान, धर्म, प्रौद्योगिकी बदल जाएँगे, पर सामान्य जीवन व उसकी क्रियाएँ चलती रहेंगी। सामान्य जीवन हमेशा सत्य, नैतिकता या सादगी से युक्त हो ही, यह जरूरी नहीं। उसमें झूठ और अनैतिक व्यवहार भी होता है। लेकिन उसमें सत्य, नैतिकता और न्याय की कसौटियाँ जरूर उपलब्ध होती हैं, जिनके संदर्भ सतत प्रभावशील रहते हैं। सामान्य जीवन मनुष्य समाज के अस्तित्व की शर्त है। लोकविद्या सामान्य जीवन के प्रवाह में गुँथा हुआ ज्ञान का प्रवाह है। जिस तरह हर व्यक्ति ज्ञानवान होता है, उसी तरह हर समाज एक ज्ञान-समाज होता है। जब ज्ञान के संगठन का कोई एक तरीका समाज पर हावी हो जाता है और वह जीवन को किसी खास नॉलेज सिस्टम के तहत ढालना चाहता है तो सामान्य जीवन आहत और ज्ञान-प्रवाह बाधित हो जाता है।

लोकविद्या में सत्य के निर्माण और पुनर्निर्माण की प्रक्रिया न्याय और नैतिकता के मूल्यों से जुड़ी होती है। लोकविद्या के लिए सत्य कोई अमूर्त वस्तु नहीं है। न ही सत्य कोई ऐसी वस्तु है जिसकी खोज में भटकना पड़े। जीवन की जरूरत, अनुभव और संवेदनाओं के मार्फत सत्य का निर्माण होता है। लोकविद्या और लोकस्थ होने की क्रियाएँ सत्य के पुनर्निर्माण का हिस्सा हैं। लोकविद्या के चिंतकों ने माना है कि लोकविद्या का दर्शन संत परम्परा का दर्शन है और अपने समय की आततायी ताकतों से असहयोग का दर्शन है। यह मनुष्य को लालची और स्वार्थी प्राणी के रूप में न देख कर सत्य और अहिंसा में मौलिक आस्था रखने वाले जीव के रूप में देखता है। हमारे समाज के अधिकांश लोग लोकविद्याधर हैं। कॉलेज या विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ने के बावजूद उनके पास अपना-अपना विस्तृत ज्ञान है। अपने ज्ञान के बल पर ये घर-परिवार चलाते हैं और तरह-तरह की सुविधाएँ और वस्तुएँ पूरे समाज को मुहैया कराते हैं। लोकविद्याधरों के समाज की दुर्दशा का कारण है कि इनके ज्ञान की कोई पूछ नहीं है। देश और समाज के संचालक मूल्यों, नीतियों और व्यवस्थाओं पर लोकविद्याधारक-समाज की समीक्षा व राय लेने की जरूरत ही नहीं समझी जाती है। जरूरत है ऐसे सार्वजनिक स्थानों और कार्यों की जहाँ लोकविद्याधर अपने ज्ञान के बल पर समाज में सही-गलत की पहचान करें तथा इसे सारे समाज के सामने रखें।

विचार और कार्य : लोकविद्या की अवधारणा पर आधारित पहला सार्वजनिक कार्य 1998 में वाराणसी में

आयोजित 'लोकविद्या महाधिवेशन' को माना जा सकता है। इस महाधिवेशन की पृष्ठभूमि में कई वर्षों से कार्यरत तीन संस्थाओं की अहम भूमिका थी। मजदूर किसान नीति (कानपुर), पैट्रियोटिक ऐंड पीपल-ओरिएंटेड साइंस ऐंड टेक्नोलॉजी ग्रुप (पी.पी.एस.टी., चेन्नई) तथा नारी हस्तकला उद्योग समिति (वाराणसी) के माध्यम से विज्ञान, प्रौद्योगिक, ज्ञान आदि पर पहले से विचारों का मंथन चल रहा था। 1993 में तथा 1995 में चेन्नई में 'पारम्परिक ज्ञान और प्रौद्योगिक' पर दो बड़े सम्मेलन हो चुके थे तथा तीसरा सम्मेलन वाराणसी में होना तय था। वाराणसी सम्मेलन के तैयारी के लिए वैचारिक बहसों में 'लोकविद्या' का विचार उभर कर आया। परिणामस्वरूप इस सम्मेलन का नाम बदलकर 'लोकविद्या महाधिवेशन' रखा गया। लोकविद्या की अवधारणा के विकास में कई लोगों और संस्थाओं का योगदान रहा है। परन्तु इसके राजनैतिक व दार्शनिक आधार सबसे विकसित और मजबूत रूप में सुनील सहस्रबुद्धे और चित्रा सहस्रबुद्धे के कार्य और विचारों में सामने आये। सुनील सहस्रबुद्धे ने लोकविद्या विचार को मार्क्स तथा गाँधी के युगांतरकारी विचारों के सिलसिलेवार विकास के क्रम में उभारा।

लोकविद्या की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से आयोजित वाराणसी महाधिवेशन में करीब डेढ़ हजार लोगों ने हिस्सा लिया और समाज से जुड़े तमाम मुद्दों पर वार्ता हुई। किसानों, कारीगरों और महिलाओं के सम्मेलनों के मार्फत उनके अपने ज्ञान के दावे पेश किये गये। इस अधिवेशन का विचार बिन्दु वर्चस्वशाली आधुनिक विज्ञान के साये से निकाल कर लोकविद्या को सार्वजनिक दुनिया में पेश करना था। सूचना युग के खतरे और इसकी सम्भावनाएँ अभी तक सामने नहीं आयी थीं। नयी सदी में यह स्थिति बदली। 2003 से 'समाज में ज्ञान पर संवाद' का एक सिलसिला शुरू किया गया जो कि विश्व सामाजिक मंच के हैदराबाद, मुम्बई, दिल्ली तथा कराची सम्मेलनों में आयोजित हुआ। इस संवादों में सूचना युग में आये बदलावों का विश्लेषण मुखर था। 2005 में सारनाथ, वाराणसी में 'विद्या आश्रम' की स्थापना हुई। इसमें सक्रिय कार्यकर्ता समूह किसान आंदोलनों की देन हैं। कारीगर, आदिवासी, देश के विभिन्न स्थानों में कार्यरत कई दार्शनिक, शोधकर्ता, प्रोफेसर, इंजीनियर इत्यादि भी विद्या आश्रम के क्रिया-कलापों और वैचारिक बहसों में भाग लेते रहे हैं। 2002-9 में युरोप अवस्थित कार्यकर्ता-चिंतकों के एक नेटवर्क 'एडू-फैक्टरी' द्वारा आज के विश्वविद्यालय में आ रहे बदलावों पर चलायी गयी बहसों में विद्या आश्रम ने भाग लिया और उनसे सम्पर्क बनाया।

इस क्रम में 'लोकविद्या जन आन्दोलन' का विचार सामने आया और नवम्बर, 2011 में लोकविद्या जन आन्दोलन

का प्रथम अधिवेशन सारनाथ में हुआ जिसमें देश के विभिन्न भागों से आये करीब चार सौ कार्यकर्ताओं ने भाग लिया। इस अधिवेशन का मूल विचार यह था कि लोकविद्याधर-समाज अपने ज्ञान के बल पर एक बराबरी के समाज का दावा पेश करे। इसके पृष्ठभूमि में यह दृष्टि है कि सूचना युग में सामाजिक बराबरी के लिए परिवर्तन का आधार ज्ञान की बराबरी में ही निहित है।

सूचना युग की गतिविधियों को वैधता इस दावे से मिलती है कि एक ज्ञान-आधारित समाज का निर्माण हो रहा है। कम्प्यूटर, इंटरनेट और मोबाइल का दुनिया भर में विस्तार हो रहा है और इन पर आधारित अन्य उद्योग जैसे मीडिया, मनोरंजन, शिक्षा आदि भी फल-फूल रहे हैं। इनके फलने-फूलने की प्रक्रिया को ही ज्ञान-आधारित समाज के निर्माण का पर्यायवाची मान लिया गया है। लोकविद्या दृष्टिकोण के अनुसार इस प्रक्रिया में ज्ञान पर कब्जे और उसके शोषण पर आधारित समाज बन रहा है। आम आदमी को ज्ञान-प्राप्ति से और उसके अपने ज्ञान के इस्तेमाल से रोकने की व्यवस्थाएँ बन रही हैं। एक तरफ तो शिक्षा महँगी होती चली जा रही है। दूसरी ओर लोकविद्याधर-समाज द्वारा बनायी गयी वस्तुओं और उनके द्वारा मुहैया की गयी सेवाओं का मूल्य घटता जा रहा है। ज्ञान की गतिविधियाँ अब ज्यादा कम्प्यूटर व इंटरनेट पर हो रही हैं, और इन तक आम जनता की पहुँच अभी भी काफी सीमित है। पेटेंट बना कर कम्प्यूटर में संगृहीत कर लोकविद्या पर पूँजिपतियों का अधिकार बन रहा है।

लोकविद्या जनांदोलन बहुसंख्यक गरीब लोगों के शोषण और बदहाली का ज्ञान के दृष्टिकोण से विश्लेषण करता है। यह लोकविद्याधर समाज का ज्ञान-आंदोलन है। आज देश भर में विस्थापन का मुद्दा कई सामाजिक आंदोलनों का केंद्रीय सरोकार बना हुआ है। किसान अपनी ज़मीन से ज़बरदस्ती बेदखल हो रहे हैं, आदिवासियों को जंगल से बेदखल किया जा रहा है और पटरी के दुकानदारों को शहरों के नुक्कड़ों और सड़कों से। ये सारे लोग लोकविद्याधर समाज से ही हैं। और विस्थापन से हुई पीड़ा के मूल में है उनके अपने ज्ञान के आधार पर अपनी जीविका चलाने से उन्हें रोकना। सारे विस्थापित दैनिक मजदूर बनने पर मजबूर हैं क्योंकि उन्हें वहाँ स्थानांतरित किया जाता है जहाँ वे अपने ज्ञान का इस्तेमाल नहीं कर सकते। ये विविध स्थानीय समाज जो कि सारे लोकविद्याधर हैं, इनके ज्ञान के दावे को पेश करना लोकविद्या जनांदोलन का उद्देश्य है।

इसके अलावा ज्ञान के संदर्भ में लोकविद्या जिन मूल्यों को स्थापित करना चाहती है वह आज की दुनिया में हो रहे ज्ञान के व्यवसायीकरण के खिलाफ़ है। लोकविद्या में ज्ञान को जीविका, संस्कृति और मुक्ति के वाहन के रूप में देखा जाता

है। लोकविद्या ज्ञान को मुनाफ़े की वस्तु के रूप में देखने के खिल्लाफ़ है। वह ज्ञान के व्यवसायीकरण के खिल्लाफ़ पूरी मानवता की पक्षधर है। लोकविद्याधर समाज के ज्ञान-आंदोलन के रूप में वह गरीबों की पैरोकार है।

देखें : आशिस नंदी-1 और 2, आनंद केंटिश कुमारस्वामी, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चेतपट वेंकटसुब्बन शेषाद्रि, जोसेफ़ चेल्लादुरै कुमारप्पा, दया कृष्ण, धीरुभाई शेठ, बदरी नाथ शुक्ल, भमुकुंद लाठ, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, यशदेव शल्य, रजनी कोठारी, राम अवतार शर्मा, वासुदेव शरण अग्रवाल।

संदर्भ

1. अनन्या वाजपेयी (2006), 'द नॉलेज डिबेट रिओपंड', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 46, अंक 51.
2. विद्या आश्रम, वाराणसी द्वारा प्रकाशित 'ज्ञान की राजनीति' पुस्तकमाला के तहत प्रकाशित पाँच पुस्तिकाएँ : *लौकिक सत्याग्रह, लोगों के हित की राजनीति और ज्ञान का सवाल, ज्ञान मुक्ति आह्वान, युवा ज्ञान शिविर और लोकविद्या*.
3. लोकविद्या विचार और आंदोलन की विस्तृत जानकारी के लिए देखें वेबसाइट : डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू.विद्याश्रम.ओआरजी.

— अविनाश झा

लोकायत

(Lokayat)

भारतीय चिंतन परम्परा का एक पहलू अगर ईश्वरवादी है तो दूसरा अनीश्वरवादी। ईश्वरवादी दर्शन आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत, माया, अध्यात्म व परलोक पर आधारित है तथा अनीश्वरवादी दर्शन पूरी तरह से इन सारी मान्यताओं और अवधारणाओं के विरुद्ध आत्मा, परमात्मा और लोक आधारित भौतिकवादी दर्शन की प्रस्थापना करता है। इस दृष्टि से लोकायत दर्शन काफ़ी महत्वपूर्ण है। इसे जड़वादी या चार्वाक दर्शन के नाम से भी जाना जाता है। लोकायत मत बहुत सी प्रचलित परम्पराओं और मान्यताओं को अस्वीकार करता है क्योंकि वे न तो इंद्रियबोध्य हैं और न ही प्रमाण-सिद्ध। भारतीय चिंतन परम्परा में यह एकमात्र दर्शन है जो किसी चीज़ के अस्तित्व के लिए उसके प्रति प्रमाण-सिद्धता का आग्रही है। वह हर चीज़ को तर्क की कसौटी पर कस कर मानता है। इस तरह से यह दर्शन वेद, ईश्वर, अंधविश्वास आदि को नकारता हुआ वैज्ञानिक-दृष्टिकोण ले कर प्रस्तुत होता है। अपनी तर्कशीलता के कारण ही वह तत्कालीन समाज में काफ़ी लोकप्रिय व आम जन-जीवन में व्याप्त रहा।

इस मत का महत्त्व इस बात से भी समझा जा सकता है कि कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में राजकुमारों को निर्देश दिया गया है कि वे सांख्य और योग प्रणालियों के साथ-साथ लोकायत दर्शन का भी अध्ययन करें।

उपनिषदों के प्रादुर्भाव के अनंतर तथा *महाभारत* की रचना के पूर्व भारतीय तत्त्वज्ञान के इतिहास में एक ऐसे अनूठे युग की शुरुआत हुई थी जिसमें आध्यात्मिक विचारों को जनसाधारण में अविश्वास की दृष्टि से देखता था। चार्वाक-दर्शन का प्रादुर्भाव इसी युग से संबंध रखता है। लोकायत या चार्वाक दर्शन नामकरण के पीछे कई अवधारणाएँ हैं। एक प्रबल धारणा के अनुसार लोकायत का अर्थ है— लोक में आयत अर्थात् व्याप्त सिद्धांत। इस आधार पर अपनी लोकप्रियता एवं जनसामान्य में व्याप्ति की वजह से इस दर्शन को लोकायत कहा गया। चार्वाक नाम पड़ने का कारण बताया जाता है कि इसकी प्रस्थापना आचार्य वृहस्पति के शिष्य चार्वाक ऋषि ने की। कुछ लोग कहते हैं कि चार्वाक किसी व्यक्ति का नाम नहीं था। वे 'चारुवाक्' से चार्वाक की निष्पत्ति मानते हैं। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार 'चार्वाक' शब्द 'चर्व' धातु से निष्पन्न है। 'वर्क' का अर्थ चबाना या भोजन करना है। चूँकि चार्वाक मत में खाने-पीने पर ज़्यादा जोर दिया जाता है इसलिए इसका नाम चार्वाक पड़ा। विद्वानों का एक समुदाय इसके प्रस्थापक ऋषि चार्वाक के अनुयायियों को भी 'चार्वाक' कहे जाने के पक्षधर हैं। एक विचार यह भी मानता है कि उनके वचन मधुर व चारु (सुंदर) वाक् होने के कारण वे चार्वाक कहलाए। कुछ का तो यह भी कहना है कि ऋषि चार्वाक सुरों के गुरु वृहस्पति का ही दूसरा नाम है। उन्होंने इस मत का प्रतिपादन इसलिए किया था कि असुर उसका अनुसरण करके समाप्त हो जाएँ। अतः वृहस्पति प्रणीत दर्शन होने के कारण इसे ब्राह्मस्पत्य दर्शन भी कहा जाता है। फिर भी लोकायत चार्वाक नाम ही आम प्रचलन में है।

वास्तविकता चाहे जो हो, इतना तो तय है कि एक युग में यह दर्शन भारत में लोकप्रिय रहा है। वाल्मीकि कृत *रामायण* (अयोध्या काण्ड, 102/38-39) में इस मत के लिए लोकायत शब्द का प्रयोग हुआ तथा इसके ज्ञानियों को लोकायतिक कहा गया है। वाल्मीकि ने लोकायतियों की आलोचना करते हुए कहा कि वे अपने को बड़ा पण्डित समझते हैं, लेकिन बाल-बुद्धि होते हैं और अनर्थ करने में ही दक्ष होते हैं। वाल्मीकि के अनुसार लोकायति धर्मशास्त्र का निरादर कर अपनी तर्क बुद्धि से निरर्थक बातें करते हैं।

लोकायत के बारे में जानकारी के लिए अनेक ग्रंथों में सामग्री मिलती है लेकिन अभी तक कोई ऐसा ग्रंथ नहीं उपलब्ध है जो स्वयं इसका प्रतिपादन और प्रतिनिधित्व करता हो। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने अपने सिद्धांतों की स्थापना की प्रक्रिया में चार्वाक मत का खण्डन किया है। इन्हीं उल्लेखों के आधार पर इस मत का स्वरूप-सिद्धांत

खड़ा होता है। *ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य* (3/3/53-54 सूत्र), कमलशील कृत *तत्त्वसंग्रह पंजिका, विवरण-प्रमेय संग्रह, न्यायमंजरी, सर्वसिद्धांत संग्रह, सर्वदर्शन-संग्रह* (प्रथम परिच्छेद), *नैषधीय चरित* (17वाँ सर्ग) आदि ग्रंथों में चार्वाक सिद्धांतों का उल्लेख है। ये ग्रंथ चार्वाक दर्शन का प्रतिपादन पूर्व-पक्ष की दृष्टि से करते हैं लेकिन सम्भवतः भट्ट जयराशि विरचित *तत्त्वोपल्लव सिंह* ही प्रथम ग्रंथ है, जिसमें इस मत का सैद्धांतिक विवेचन उत्तर-पक्ष के रूप में किया गया है। इस संबंध में बृहस्पति विरचित कतिपय *बार्हस्पत्य सूत्र* पूर्वोक्त ग्रंथों एवं अन्य जगहों पर उद्धृत किये गये हैं। इनकी संख्या बमुश्किल बीस होगी और इन्हीं के आधार पर लोकायत मत की सैद्धांतिकी और स्वरूप का निरूपण होता है।

बार्हस्पत्य सूत्र के आधार पर लोकायत के सैद्धांतिक आधार-बिंदु इस प्रकार हैं : पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ही तत्त्व हैं; इनके मिलन से शरीर, इंद्रिय और विषय बनते हैं; जिस प्रकार किण्वादि से (अंगूर आदि के रस में विकार उत्पन्न करके बनाई गयी मदिरा में) मादक शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जड़ तत्त्वों से (उनके विविध अनुपात में मिश्रण से जीवित शरीर में) चैतन्य उत्पन्न होता है; काम ही एकमात्र पुरुषार्थ है; मरण ही मोक्ष है।

तत्त्वमीमांसा : लोकायत की तत्त्वमीमांसा के अनुसार उसके अनुयायी दुःखों से मुक्ति के लिए तत्त्वों का संज्ञान आवश्यक मानते हैं। इसके तहत पृथ्वी, जल, तेज व वायु को तत्त्व रूप में स्वीकार किया जाता है। इन तत्त्वों से ही जगत्, हमारा शरीर तथा अन्य सभी भौतिक पदार्थों की रचना हुई है। प्राणियों का जन्म तत्त्वों के संयोग से होता है। मृत्यु के बाद फिर भूतों में ही विलीन हो जाता है। इनमें संयोजन या सम्मिश्रण की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है और इसलिए इनसे उत्पन्न वस्तुओं के गुणों में अंतर होता है। शरीर में पृथ्वी, जल आदि पदार्थों के अतिरिक्त 'चैतन्य' भी है। हम चेतन हैं। चारों तत्त्व जड़ हैं लेकिन जड़ पदार्थों से चैतन्य कैसे पैदा हो जाता है— इसके जवाब में बृहस्पति का कहना है कि जिस तरह चूना, कत्था, सुपारी, और हरे पान की पत्ती के विशिष्ट मिश्रण से लाली पैदा हो जाती है उसी प्रकार चारों मूलभूत तत्त्वों से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। चैतन्य कोई पृथक् सिद्ध वस्तु नहीं, प्रत्युत तत्त्वों का ही एक विकार है। चेतनायुक्त स्थूल शरीर ही पुरुष या आत्मा है। इसके अतिरिक्त आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। चैतन्य विशिष्ट यह स्थूल शरीर ही आत्मा है। फलतः शरीर के नाश के साथ ही इस आत्मा का भी नाश हो जाता है। इसलिए इसके किसी परलोक जाने का सवाल ही नहीं उठता है। परलोक जो गया

वह कोई लौट कर वहाँ से आया ही नहीं कि कोई कुछ बता पाता। इसलिए यह श्रोत्रियों की कपोल-कल्पना है। दुःखों से मुक्ति ही मोक्ष है। दुखों का ज्ञान हमें शरीर के जरिये ही होता है। मरने के बाद उसका ज्ञान नहीं रह जाता है इसलिए मरण ही मोक्ष है और यही मुक्ति है।

प्रमाणमीमांसा : लोकायत प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है। वह अनुमान, उपमान, शब्द आदि जैसे अन्य प्रमाणों को अस्वीकार करता है तथा इंद्रियगोचरता को सत्यता की कसौटी मानता है। इंद्रियों द्वारा जो कुछ भी गम्य है, बोध्य है, ज्ञेय है, वही सच्चा है, प्रामाणिक है, मान्य है तथा विश्वास्य है। चार्वाक के अनुसार विश्वास योग्य व्यक्तियों से ज्ञान शब्द के रूप में मिलता है और शब्दों का सुनना तो प्रत्यक्ष है इस तरह शब्द-ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है। इसलिए इसे प्रामाणिक मानना चाहिए। यदि शब्द से ऐसी वस्तुओं का बोध हो जो प्रत्यक्ष से परे हों, अर्थात् यदि शब्द से अप्रत्यक्ष वस्तुओं का बोध होता हो तो इसको दोष-रहित नहीं कहा जा सकता है।



देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय
(1933-)

तथाकथित शब्द-प्रमाण से प्रायः मिथ्या ज्ञान ही प्राप्त होता है। चूँकि यह सिद्ध नहीं हो सकता कि अनुमान तथा शब्द विश्वास्य है; इसलिए प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

वेदों का विरोध करते हुए लोकायत कहता है कि अनेक व्यक्तियों को वेद में पूर्ण विश्वास है किंतु वेद उन पुरोहितों का कृत्य है जिन्होंने झूठी आशाएँ तथा झूठे प्रलोभन देकर मनुष्यों को धोखे में डाल कर अपनी जीविका का प्रबंध किया है।

आचारमीमांसा : सामान्यतः भारतीय दर्शनों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में चार पुरुषार्थों की परिकल्पना की गयी है। इन्हें ही जीवन का प्राप्य व लक्ष्य माना गया है। मीमांसकों की दृष्टि में वेद द्वारा प्रतिपादित तथा इष्ट अर्थ को देने वाला अनुष्ठान ही 'धर्म' कहलाता है। किंतु लोकायत मत काम को ही मुख्य पुरुषार्थ और भौतिक सुख को ही जीवन का लक्ष्य मानता है। चूँकि सुख धन-दौलत के बिना सम्भव नहीं इसलिए अर्थ अर्वांतर पुरुषार्थ है। आदमी का अस्तित्व शरीर में तथा वर्तमान जीवन तक ही सीमित है। अतः इस शरीर द्वारा जो सुख प्राप्त हो सकता है वही हमारा एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। परलोक-सुख की झूठी आशा में रह कर हमें इस जीवन के सुख को टुकरा नहीं देना चाहिए। इसलिए यह दर्शन 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' का विचार देता है।

समाज-व्यवस्था : लोकायत मत मनु के समान ही मानता है कि 'दण्ड ही प्रजाओं का पालन करता है। दण्ड के भय से प्रजा अपने कार्यों का पालन करती है। दण्ड का भय

यदि उठा दिया जाए तो प्रजा उच्छृंखल बन जाए और मनमाने रास्तों पर चल कर एक-दूसरे का जीना कठिन कर दे। महाभारत और स्मृति ग्रंथों में मानव-समाज के व्यवस्थापन के निमित्त दण्ड के आविर्भाव का जो वर्णन मिलता है, वह चार्वक को भी मान्य है।

ईश्वर का खण्डन : यह मत ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करता है क्योंकि उसे प्रत्यक्षतः साबित नहीं किया जाता और वह इंद्रियगोचर नहीं है इसलिए वह नहीं है। किंतु ईश्वर अवश्य है। निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ व्यक्ति ही ईश्वर है। प्रजा के ऊपर शासन करने वाला, उन्हें कुमार्ग से हटा कर सन्मार्ग पर ले जाने वाला, अपराधियों को दण्ड देने वाला, शोभन कार्य करने वालों पर अनुग्रह करने वाला— ऐसे प्रत्यक्ष शासक के अलावा कोई दूसरा ईश्वर और नहीं है। हालाँकि लोकायत मत अतिभौतिकवादी सुखवाद का प्रबल पक्षधर है किंतु अनियंत्रित जीवन पर उसकी सख्त निगाह है। उसकी मान्यता है कि समाज के भीतर रह कर ही व्यक्ति व्यवस्थित तथा मर्यादित जीवन बिता सकता है, समाज से बहिर्मुख होने पर नहीं। इसीलिए समाज को दण्ड द्वारा शासित करने वाला राजा उसकी दृष्टि में ईश्वर है।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, राम अवतार शर्मा, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय (2005), *लोकायत : प्राचीन भौतिकवाद का अध्ययन*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (2012), *भारतीय दर्शन*, खण्ड 2, अध्याय 7, राजपाल ऐंड संज, नयी दिल्ली.
3. के. दामोदरन (1982), *भारतीय चिंतन परम्परा*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
4. आचार्य बलदेव उपाध्याय (2000), *भारतीय दर्शन की रूपरेखा*, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी.

— अजय कुमार पाण्डेय

लोकतंत्र

(Democracy)

लोकतंत्र यानी डेमोक्रेसी यूनानी भाषा के दो शब्दों डेमोस (जनता) और क्रेटिया (तंत्र) से मिल कर बना है। इसका सीधा मतलब निकलता है जनता का तंत्र। प्रत्येक राजनीतिक समुदाय को यह तय करना पड़ता है कि उस पर कौन शासन करेगा, सरकार किन उसूलों के आधार पर बनाई जाएगी और इस मकसद के लिए किस तरह के संस्थागत विन्यास की आवश्यकता होगी। लोकतंत्र का विचार इस तरह के सामूहिक फ़ैसले लेने का आधार मुहैया कराता है। इस लिहाज से लोकतंत्र न केवल एक निर्णय लेने संबंधी विधि है, बल्कि वह कुछ विशेष मूल्यों और आचरणों की संहिता भी है जिसके जरिये लोग फ़ैसलों पर पहुँचते हैं। राजनीतिक समानता के केंद्रीय मूल्य के तहत लोकतंत्र इस मानक पर चलता है कि मत, हित और नैतिकता के लिहाज से प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य समान है इसलिए राजनीतिक प्रक्रिया से किसी को बाहर नहीं किया जा सकता। इसी आग्रह से 'एक व्यक्ति-एक वोट' के सिद्धांत का जन्म हुआ है जो किसी पदानुक्रम या विरासत में मिली हैसियत या उस पर आधारित भेदभाव को खारिज करता है। इस लोकतांत्रिक मानक को स्वीकार करने के पीछे बहुत लम्बे संघर्ष की कहानी है। शुरू में मतदान का अधिकार केवल युरोप और अमेरिका के सम्पदाधारियों और श्वेतांगों को ही प्राप्त था। फिर क्रमशः यह अधिकार सभी तरह के शिक्षितों, मजदूरवर्गीय श्वेत नागरिकों, अश्वेतों और स्त्रियों को मिला। एशिया और अफ्रीका में हुए उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों की जीत ने भारत जैसे देशों की जनता के लिए स्वशासन का रास्ता खोला। भारत में 'एक वोट-एक व्यक्ति' का अधिकार बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक नागरिक को एक साथ दिया गया।

आजकल लोकतंत्र के विचार का इस क्रूर बोलबाला है कि भूमण्डलीय पैमाने पर वर्तमान कालावधि को निर्विवाद रूप से लोकतंत्र का युग ही करार दे दिया गया है। फ़ौजी शासक, तानाशाह और राजशाहियाँ तक खुद को लोकतंत्र कहना पसंद करती हैं। किसी को अलोकतांत्रिक कहना एक गंभीर आरोप की तरह लिया जाता है।

लोकतंत्र की यह साख हमेशा से ही ऐसी नहीं थी। बहुत समय तक लोकतंत्र को भीड़-तंत्र या अक्षम शासन की संज्ञा दी जाती रही है। इस अवधारणा पर समाज-विज्ञान और सामान्य राजनीति के हलकों में जबरदस्त विवाद होता रहा है। इसके साथ कुछ बुनियादी सवाल हमेशा से जुड़े रहे हैं : लोकतंत्र का मतलब अगर जनता का शासन है तो फिर जनता

किसे समझा जाना चाहिए, और वह किस तरह हुकूमत करेगी? उसके शासन का दायरा क्या होगा, सरकार चलाने में किन संस्थाओं से काम लिया जाएगा और किन उद्देश्यों की पूर्ति की जाएगी? इन प्रश्नों का अगर उत्तर खोजा जाए तो हमारे हाथ लोकतंत्र की एक सर्वमान्य क्रिस्म नहीं लगती। कई क्रिस्में और मॉडल सामने आते हैं। लोकतंत्र उदारतावादी होता है, सामाजिक होता है, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हो सकता है। लोकतंत्र रैडिकल हो सकता है, विचारात्मक हो सकता है, क्रियाविधिक या तात्त्विक हो सकता है, बलशाली या दुर्बल हो सकता है, सहचारी हो सकता है, बहुलवादी या अभिजनोन्मुख हो सकता है।

बहरहाल, लोकतंत्र कैसा भी हो, उसके मर्म में लोकप्रिय सत्ता की अवधारणा निहित है जिसके तहत सत्ता और प्राधिकार अंततः जनता के हाथ में माना जाता है। अलोकतांत्रिक सरकार में निर्णय जनता की सहमति के बिना ले कर उस पर थोप दिये जाते हैं। लेकिन, लोकतांत्रिक व्यवस्था सुनिश्चित करती है कि सत्ताधारी कारकुन जनता के प्रति जवाबदेह रहें। जनता की यह सहमति ही सरकार के प्राधिकार को वैध बनाती है। सहमति का प्रश्न सहभागिता के प्रश्न की तरफ ले जाता है। आखिर जनता की सहभागिता किस सीमा तक होनी चाहिए ताकि उससे निकलने वाली सहमति पर्याप्त रूप से वैध मानी जा सके?

ईसापूर्व पाँचवीं और चौथी सदी में प्राचीन एथेंस के नगर-राज्य में प्रत्यक्ष लोकतंत्र का मॉडल प्रचलित था जिसमें हर निर्णय में प्रत्येक नागरिक भागीदारी करता था। एक सार्वजनिक स्थान पर सभी जमा होते थे और आपस में बहस करके शासन संबंधी फैसले लिए जाते थे। पचियाँ डाल कर खुली सभाओं में कार्याधिकारियों का चुनाव होता था और सभी अधिकार अल्पावधि के लिए ही अधिकारसम्पन्न किये जाते थे ताकि एक-एक करके सभी को शासन में सीधी भागीदारी मिल सके। यह मॉडल उच्च स्तर की राजनीतिक जवाबदेही, राजनीतिक सक्रियता और नागरिक जागरूकता पर टिका हुआ था। नागरिक के लिए सहभागिता एक पवित्र कर्तव्य और पूर्णकालिक कार्य था। नागरिकों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने निजी स्वार्थों को पूरी तरह से छोड़ कर केवल सामुदायिक हितों को ही तरजीह देंगे ताकि सभी के लिए उत्तम जीवन उपलब्ध किया जा सके। यह माना जाता था कि सहभागिता के जरिये ही नागरिक अपना बुद्धिसंगत विकास कर सकते हैं। प्राचीन रोम में भी एथेंस के लोकतंत्र के इन्हीं मूल्यों को अपनाया गया था। रोम के तंत्र को नागरिक गणराज्यवाद की संज्ञा भी दी जाती है।

सिद्धांत के तौर पर प्रत्यक्ष लोकतंत्र की मानकीय विरासत इनती आकर्षक है कि रूसो जैसे अट्टारहवीं सदी के चिंतक से लेकर आज के नारीवादियों और समाजवादियों तक

अपने लोकतांत्रिक सिद्धांत की, इसी के आधार पर व्याख्या करते हैं। पर इस मॉडल के साथ ऐतिहासिक रूप से दो समस्याएँ जुड़ी हुई हैं : पहली बात तो यह है कि एक छोटे नगर-राज्य में ही लागू किया जा सकता है। दूसरी यह कि रिश्रियों, दासों और नगर-राज्य में बाहर से आने वाले लोगों को नागरिक होने के अधिकार प्राप्त नहीं थे। इन गैर-नागरिकों के श्रम और आर्थिक गतिविधियों के आधार पर ही वयस्क पुरुष नागरिक अपनी सहभागिता सुनिश्चित कर पाते थे। इस तरह यह मॉडल नागरिकों की समानता पर गैर-नागरिकों के बहिर्वेशन और असमानता पर आधारित था।

लोकतंत्र का दूसरा मॉडल अप्रत्यक्ष अथवा प्रातिनिधिक लोकतंत्र का है जिसके तहत जनता अपने प्रतिनिधि चुन कर भेजती है जो जनता और सरकार के बीच सूत्र बनते हैं। उनके जरिये जनता सत्ता के बेजा इस्तेमाल को रोकती है। उदारतावादी लोकतंत्र इसी विधि से चलता है। आज की दुनिया में अधिकतर लोकतंत्र अप्रत्यक्ष क्रिस्म के और प्रातिनिधिक हैं। प्रतिनिधि और जनता के बीच रिश्ते को लेकर मुख्यतः तीन मत हैं : पहला, अपने चुनाव क्षेत्र की जनता के हितों का ध्यान रखना प्रतिनिधियों का पहला कर्तव्य होना चाहिए; दूसरा, प्रतिनिधि मतदाताओं की राय से बँधा नहीं रह सकता, क्योंकि उसे अपने विवेक का सहारा लेकर जनता के नाम पर सक्रिय रहना चाहिए; तीसरा, उसे अपनी राजनीतिक पार्टी द्वारा निर्धारित नीतियों और कार्यक्रमों को अमल करने का दायित्व निभाना चाहिए, क्योंकि वह उसी के जरिये प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है। दरअसल, प्रतिनिधित्व के ये तीनों आधारभूत उसूल जनता की सहभागिता की गारंटी नहीं करते। ठोस जवाबदेही की कमी इस तरह की व्यवस्था में नौकरशाहीकरण, भ्रष्टाचार, केंद्रीकरण, पारदर्शिता के अभाव की समस्याएँ पैदा करती हैं।

हालाँकि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष लोकतंत्रों को एक-दूसरे के खिलाफ रख कर देखा जाता है, पर राजनीतिक सिद्धांत की दुनिया में हुई बहसों दोनों को जोड़ने की तजवीज करती हुई नज़र आती हैं। इसलिए उनमें सहभागिता के स्तर को लेकर हमेशा संशय बना रहता है। लगातार कोशिश की जाती रहती है कि इसे बढ़ाने की विधियाँ निकाली जाएँ। भारत में हाल ही में पारित सूचना का अधिकार एक ऐसी ही पहलकदमी है जिसके जरिये सरकार का कामकाज जनता की निगाहों के लिए खुल जाता है। इसी तरह केंद्रीकरण की समस्या से निबटने के लिए विकेंद्रीकरण के उपायों को तलाशा जाता है। जन-सुनवायी, स्थानीय निकायों को अधिकार सम्पन्न करना, रेजीडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों के जरिये सहभागिता में वृद्धि के प्रयास इसी दृष्टि से देखे जाने चाहिए। भारत में ग्राम सभा की संस्था प्रत्यक्ष लोकतंत्र का एक उदाहरण है, पर उसे प्रातिनिधिक लोकतंत्र के साथ जोड़

दिया गया है। इसी तरह जनमत संग्रह, जनता की पहलकदमी और जनता द्वारा प्रतिनिधि वापस बुलाने की प्रक्रिया भी प्रत्यक्ष लोकतंत्र की ही बानगियाँ हैं जिन्हें प्रातिनिधिक लोकतंत्र के साथ जोड़ने की वकालत की जाती रहती है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रांसीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशाॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. सत्यपाल गौतम (2001), *समाज दर्शन*, देखें 'लोकतंत्र' पर अध्याय, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़.
2. जानकी श्रीनिवासन (2008), 'डेमोक्रेसी', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लॉंगमेन, नयी दिल्ली.
3. एंथनी अलबास्टर (1994), *डेमोक्रेसी : कंसेप्ट्स इन द सोशल साइंसिज़*, ओपन युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. फ्रैंक कनिंघम (2002), *थियरीज़ ऑफ़ डेमोक्रेसी : अ क्रिटिकल इंट्रोडक्शन*, लंदन, रॉटलेज, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

लोकतंत्र की आलोचनाएँ

(Critiques of Democracy)

लोकतंत्र के आलोचक मुख्यतः दो खेमों में बँट हुए हैं : एक वे जो लोकतंत्र को ही आपत्तिजनक मानते हैं, और दूसरे वे जो किसी खास तरह के लोकतंत्र की अपर्याप्तताओं से नाराज़ हैं और उसे बेहतर बनाना चाहते हैं। लोकतंत्र की ये आलोचनाएँ प्रकारांतर से उसके सर्वाधिक प्रचलित संस्करण उदारतावादी लोकतंत्र पर भी लागू होती हैं।

प्लेटो पहले क्रिस्म के आलोचक थे जिन्होंने एथेंस के प्रत्यक्ष लोकतंत्र को आड़े हाथों लेते हुए उसे अक्षम और अकुशल व्यवस्था करार दिया था। उनकी मान्यता थी कि सरकार चलाने विशेषज्ञों का काम है और हर व्यक्ति को शासन करने लायक मानना मानवीय प्रकृति की भ्रांत समझ का परिणाम है। इनसानों को बुनियादी रूप से असमान मानने वाले प्लेटो के मुताबिक हुकूमत वही कर सकता है जिसमें राजा और दार्शनिक के मिले-जुले गुण हों। यह फ़िलॉसफ़र-किंग की अवधारणा थी। साधारण लोगों के शासन में निहित जोखिमों को देखते हुए ही अरस्तू ने लोकतंत्र को अशुद्ध प्रणालियों की श्रेणी में रखा था।

लेकिन दूसरे खेमे के आलोचकों ने भी लोकतंत्र के मौजूदा संस्करणों में बहुत सी खामियाँ खोज निकाली हैं। उन्नीसवीं सदी में युरोपीय और अमेरिकी लोकतंत्रों के अनुभव का सार-संकलन करते हुए टॉकवील ने 'बहुमत की निरंकुशता' जैसी अभिव्यक्ति का इस्तेमाल करके लोकतंत्र के तहत अल्पसंख्यकों और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए पैदा होने वाले खतरों की तरफ़ इशारा किया था। टॉकवील इसके सांस्कृतिक फलितार्थों से खास तौर पर चिंतित थे। बहुमत के सांस्कृतिक मानकों का बोलबाला न केवल विविधता को समाप्त करता है, बल्कि नैतिकताओं, शिष्टताओं और सृजनशीलता की दुनिया को दरिद्र भी कर देता है। 'लोकप्रिय दायरे' में संस्कृति और अभिरुचियों का स्तर गिर जाता है। यही तर्क जन-हित को होने वाले नुकसान की ओर भी इंगित करता है। लोकप्रिय होने की चाहत या वोट पाने के लिए लोकप्रिय भावनाओं के सामने घुटने टेकने की प्रवृत्ति से वास्तविक जन-हित को ठेस लग सकती है, सही और बुद्धिसंगत नीतियाँ बनने में बाधा पड़ सकती है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी बहुमत की निरंकुशता और घटिया सरकार को लोकतंत्र की सबसे बड़ी दुर्बलताओं के रूप में देखा है। अल्पमत की आवाज़ें खामोश कर दी जाती हैं, और कमतर क्रिस्म के लोग अहम जिम्मेदारियाँ निभाते हुए देखे जाते हैं। बहुमत का उसूल

अल्पमत की राय, विशेषज्ञों और प्रतिभाशाली लोगों की भागीदारी को हाशिये पर न डाल सके, इसके लिए मिल ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व और पर्याप्त रूप से शिक्षितों को एक से अधिक वोट का अधिकार देने का सुझाव दिया था। उनकी मान्यता थी कि बहुमत के शासन में समरूपता और अनुपालन थोपने की प्रवृत्ति होती है, जबकि प्रगति के लिए अनुपालन विरोधी प्रतिभा की आवश्यकता होती है। वे विधि निर्माण का काम विशेषज्ञों की कमेटी को और शासन का काम कुशल अधिकारी तंत्र को देने के पक्ष में थे। उन्होंने जिस प्रातिनिधिक विधायिका की कल्पना की थी, उसका काम विधि-निर्माण पर बहस-मुबाहिसा करना और सरकार के कामकाज पर नज़र रखना था। सैद्धांतिक दृष्टि से देखा जाए तो मिल अभिजनोन्मुखता, सहभागिता और समानता को जोड़ देते हैं। उदारतावादी चिंतन के लिहाज़ से यह एक अनूठी तजवीज़ है। यह अलग बात है कि उन्होंने भारत जैसे औपनिवेशिक देश में प्रातिनिधिक लोकतंत्र के लिए अपनी सहमति नहीं दी थी, क्योंकि वे इस तरह का लोकतंत्र केवल 'सभ्य' देशों में ही सम्भव मानते थे। भारत तो उनके लिए एक 'बर्बर' देश था जहाँ उस समय तक निरंकुश शासन की ज़रूरत थी जब तक वह लोकतंत्र ग्रहण करने योग्य न हो जाए।

लोकतंत्र की एक और आलोचना अभिजनों के नज़रिये से की गयी है। इसके अनुसार कारगर लोकतंत्र सम्भव ही नहीं है क्योंकि हर जगह सत्ता अभिजनों के हाथ में ही केंद्रित हो जाती है। हर जगह अभिजनों का छोटा सा समूह समाज के ज्यादा बड़े हिस्से पर अपने हितों को साधते हुए हुकूमत करता है। ये अल्पजन अपनी बेहतर कुशलता, योग्यता, मनोबल, राजनीतिक दक्षता और बेहतर एकता के कारण बहुजनों पर हावी होने में कामयाब हो जाते हैं। अभिजनवादी चिंतक बहुलवादी चिंतकों के इस दावे का खण्डन करते हैं कि सत्ता पूरे समाज में बँटी होती है। सी. राइट मिल्स द्वारा किये गये अमेरिकी लोकतंत्र के अध्ययन में 'पावर इलीट' की अवधारणा उभरती है। ये सत्तारूढ़ अभिजन घनिष्ठ रूप से एकजुट होने के साथ-साथ समान पृष्ठभूमि और मूल्यों से सम्पन्न दिखाये गये हैं। लोकतंत्र के नाम पर दरअसल कार्यकारी सत्ता पर इसी वर्ग के लोगों का क़ब्ज़ा रहता है। मिशेल्स द्वारा की किये गये सोशलिस्ट पार्टियों के अध्ययन में भी यह तथ्य उभर कर आता है कि निर्णय प्रक्रिया की बागडोर नौकरशाहीकरण और केंद्रीकरण की वजह से एक छोटे से नेतृत्वकारी गुट के हाथों में चली जाती है। यह गुट मज़दूर वर्ग से कोई सलाह-मशविरा नहीं करता और अक्सर इसके फ़ैसले उस वर्ग के हितों के विपरीत जाते हैं। इसे मिशेल्स ने 'आइरन लॉ ऑफ़ ओलिगार्की' कहा है।

लोकतंत्र की इन ख़ामियों को भारतीय लोकतंत्र में भी देखा जा सकता है जहाँ वंश शासन की प्रवृत्ति विद्यमान है। पहले तो इस कुटैव की आलोचना भी होती थी, पर अब वह भी बंद हो गयी है। दरअसल, कुछ परिवारों के हाथों में लोकतांत्रिक राजनीति की बागडोर केंद्रित होती चली जा रही है। ऐसे परिवार केंद्र में भी हैं, और राज्यों में भी। यह परिघटना लगभग सभी देशों में किसी न किसी रूप में पायी जाती है।

अगर लोकतंत्र अपने सारतत्त्व में अभिजनों का शासन ही है तो इसका मतलब यह हुआ कि जनता को अभिजनों के बीच से ही अपने शासक चुनने की छूट होती है। जोसेफ़ शुमपीटर ने अपनी विख्यात रचना *कैपिटलिज़्म, सोशलिज़्म एंड डेमोक्रेसी* में प्रतियोगितामूलक अभिजनवाद का मॉडल पेश करते हुए दावा किया है कि यह मॉडल आधुनिक औद्योगिक समाजों के लिए सबसे ज़्यादा कारगर है। वे मानते हैं कि निष्क्रिय नागरिकता अच्छे शासन के लिए अच्छी बात है। शुमपीटर की निगाह में लोगों को केवल आपस में होड़ कर रहे अभिजनों के बीच से निर्वाचन करने तक ही सीमित रहना चाहिए। इस तरह वे लोकतंत्र को अभिजनों के शासन को वैधता देने का एक ज़रिया बना देना चाहते हैं।

लोकतंत्र की इन तमाम आलोचनाओं में एक ख़ूबी तो निश्चित रूप से है ही कि ये लोकतांत्रिक व्यवहार की असलियत को उघाड़ कर सामने ला देती हैं। लेकिन, दूसरी तरफ़ अगर लोकतंत्र की इन समस्याओं को अशोधनीय मान लिया जाएगा तो इनसानों की असमानता के सिद्धांत को भी मान्यता देनी पड़ेगी। कुल मिला कर ये आलोचनाएँ अपनी प्रवृत्ति में निराशाजनक हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉं जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वालज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, व्यक्तिवाद, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. भीखू पारेख (1992), 'दि कल्चरल पार्टीकुलरिटी ऑफ़ लिबरल डेमोक्रेसी', *पॉलिटिकल स्टडीज़ XL*, विशेषांक.
2. सत्यपाल गौतम (2001), *समाज दर्शन*, देखें 'लोकतंत्र' पर अध्याय, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़.
3. जानकी श्रीनिवासन (2008), 'डेमोक्रेसी', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे